[illegible] । [illegible] ये; उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभाव के प्रचार से । क्योंकि धर्म [illegible] कर रक्खा है । भारतवर्ष किसी समय संसार का गुरु था, आज वह अधःपतित और दीन हीन दशा में क्यों पच रहा है ? इसका भी उत्तर यही है कि वह धर्मभाव को खो बैठा है । यदि हम भारत से ही पूछें कि तू अपनी उन्नति के लिये हमसे क्या चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रो ! धर्मभाव की वृद्धि करो । यह तो निश्चितही है कि हिन्दुजाति धर्मप्राण जाति है । उसके रोम रोम में धर्म संस्कार ओतप्रोत है । केवल वह अपने रूप को—धर्मभाव को—भूल रही है । उसे अपने स्वरूप की पहिचान करा देना—धर्मभाव को स्थिर रखनाही—श्रीभारतधर्ममहामण्डल का एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है । यह काम १६ वर्षो से महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक सुअवसर मिलेंगे, त्यों त्यों वह जोर शोर से यह काम करेगा । उसका विश्वास है कि इसी उपाय से देशका सच्चा उपकार होगा और अन्त में भारत पुनः अपने गुरुत्व को प्राप्त कर सकेगा । विशेषतः कोई भी जाति विना अपनी मातृभाषा की उन्नति किये और अपनी मातृभाषा को पुष्ट किये उन्नति के मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकती है ।

इस उद्देश्य साधन के लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं । (१) उपदेशकों द्वारा धर्म प्रचार करना, और (२) धर्मरहस्यसम्बन्धी मौलिक पुस्तकों का उद्धार व हिन्दी भाषा में प्रकाश करना । महामण्डल ने प्रथम मार्ग का अवलम्ब आरम्भ से ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डल ने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है । दूसरे मार्ग के सम्बन्ध में भी यथायोग्य उद्योग आरम्भ से ही किया जा रहा है । विविध ग्रन्थों का संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थों का आविष्कार करना, इस प्रकार के उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है । महामण्डलने अब इस विभाग को उन्नत करने का विचार किया है । उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होने के लिये उसी विषय की पुस्तकों का प्रचार होना परम आवश्यक है । क्योंकि वक्ता एक ही बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकों का सहारा लिये नहीं हो सकता । इसके सिवाय सब प्रकार के अधिकारियों के लिये एक ही वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता । पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है । जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकार की पुस्तक पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकार के अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा । सारांश, देशकी उन्नति के लिये, भारतगौरव की रक्षाके लिये और मनुष्यों में मनुष्यत्व उत्पन्न करने के लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभाग को अधिक उन्नत करने का विचार किया है और इसकी सर्वसाधारण से प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्य में इसका हाथ बटावें एवम् इस की सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेने को प्रस्तुत हो जावें । इस कार्य को सुसम्पन्न करने के लिये जो हमने उपाय सोचेहैं उसकी नियमावली अन्तिम पृष्ठमें द्रष्टव्यहै ।

श्रीदैवीमीमांसादर्शन ।

प्रथम भाग ।

हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्य सहित ।

श्रीस्वामी विवेकानन्द
सम्पादक श्रीभारतधर्ममहामण्डलशास्त्रप्रकाश विभागद्वारा
प्रकाशित ।

काशी ।

प्रथम संस्करण

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल ।

हिन्दूजाति की स्वजातीय विराट्धर्म्मसभा ।



इस महासभा के राजा महाराजाओं से लेकर सर्व साधारण हिन्दू नर नारीमात्रही सभ्यश्रेणीभुक्त होकर धर्म्मसम्बन्धीय यथायोग्य लाभ उठा सक्ते हैं ।

श्रीमहामण्डल के साधारण सभ्य ।



जो धर्म्मप्रेमी हिन्दू नर नारी श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के साधारण सभ्य होना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें । दो २) रुपया वार्षिक देने पर वे सभ्यश्रेणीभुक्त होकर प्रमाणपत्र प्राप्त होंगे और श्रीमहामण्डल का मासिक मुखपत्र विना मूल्य प्राप्त करेंगे । अधिकन्तु मृत मेम्बरों के वारिसों को श्रीमहामण्डल के "समाजहितकारी कोष" से समुचित आर्थिक सहायता प्रदान करके श्रीमहामण्डल हिन्दूसामाजिक शक्ति और सहानुभूति व प्रेम की पुष्टि करता है ।

पत्राचार का पताः—

श्रीमान् प्रधानाध्यक्ष

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय

जगतगंज

बनारस.

श्रीविश्वनाथो जयति।

विज्ञापन

किस किस प्रकार के दार्शनिक और योगसम्बन्धीय ग्रन्थों को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करके हिन्दीभाषा को पुष्ट करने की इच्छा श्रीभारतधर्ममहामण्डल के नेताओं की है सो इस ग्रन्थ में प्रकाशित प्रस्तावना में द्रष्टव्य है। और इस ग्रन्थरत्न की भूमिका में इस दर्शनसिद्धान्त की ज्ञानभूमि का परिचय दियाही गया है।

वैदिकसिद्धान्त तो निश्चितही है। जहां सिद्धान्त का निश्चय है वहा विज्ञान का भी निश्चित होना स्वतः सिद्ध है। सुतराम् अन्य देशवासियों के दार्शनिक सिद्धान्त जिस प्रकार अनिश्चित हैं वैसा वैदिक दर्शनमार्ग न होने से वेदोक्त दर्शन सप्तज्ञानभूमि के अनुसार सात ही हैं। ये सातों दर्शन क्रमशः हिन्दीभाषा में श्रीमहामण्डल शास्त्रप्रकाश विभागद्वारा प्रकाशित होकर हिन्दीभाषा की श्री और शक्ति को बढ़ावेंगे।

दैवीमीमासादर्शन जो वैदिक उपासनाकाण्ड की मीमासा है वह दो भाग में प्रकाशित होगा जिसका यह प्रथमभाग प्रकाशित किया जाता है। दूसरा भाग यन्त्रस्थ है।

वैदिक सप्तदर्शनों में से यह दर्शन कई शताब्दि से उपलब्ध नहीं था। उसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की मीमांसा का पूर्वार्द्ध दर्शनसिद्धान्त भी अप्राप्त था। इन दोनों दर्शनों के अतिरिक्त और सब दर्शनसूत्र मिलते थे। ये दोनों सिद्धान्तग्रन्थ किस प्रकार से प्राप्त हुए हैं उसका रहस्य इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित होगा। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाशित होने से वर्त्तमानकाल के श्रद्धारहित स्रोत का अवरोध होगा और सनातनधर्म्म के अन्तर्गत साम्प्रदायिक विरोधों का निराकरण होकर उसके मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण दृढ़ता सम्पादन होगी इसमें सन्देह नहीं।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा यह पूर्वकथित सातों दर्शन ग्रन्थ संस्कृतभाष्य सहित स्वतन्त्र प्रकाशित होरहे हैं । श्रीगुरुदेव की आज्ञा से मेरे गुरुभाई स्वामी दयानन्दजी ने इस ग्रन्थ को स्वतन्त्र बंगलाभाष्य सहित बंगलाभाषा में प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है । बंगला ग्रन्थावली जो कलकत्ते से प्रकाशित होती है उसीमें वह ग्रन्थ क्रमशः छप भी रहा है । उसीके आधार पर श्रीगुरुदेव की आज्ञा से मैं यह हिन्दीसंस्करण प्रकाशित कर रहाहूं । यदि इसके द्वारा मातृभाषा हिन्दी की पुष्टि और मातृभाषा के प्रेमियों की तृप्ति होगी तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के प्रधान व्यवस्थापक श्री १०८ गुरुदेव की आज्ञानुसार श्रीमहाराज के अन्यान्य ग्रन्थों के अनुसार इस ग्रन्थ का भी स्वत्वाधिकार दीनसेवा के उद्देश्य से श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार को अर्पित किया गया है । और इस ग्रन्थरत्न की छपाई के लिये खैरीगढ़ राज्येश्वरी परमधार्मिका श्रीभारतधर्मलक्ष्मी उपाधि से अलङ्कृत श्रीमतीमहाराणी सुरथकुमारी देवी महोदया ने यथायोग्य आर्थिक सहायता प्रदान की है जिसके लिये वे हिन्दूजाति की आशीर्वादार्ह हैं ।

काशीधाम
विजयादशमी
सवत् १९७४ विक्रमी

विवेकानन्द.

उसके द्वार को उघाड़ने के अभिप्राय से वैदिक दर्शनशास्त्र प्रणयन किये हैं। परन्तु पृथिवी की अन्यान्य शिक्षित जातियों में इस प्रकार होने की सम्भावना न होने से उन्होंने दूर से अन्तर्राज्य का यत्किञ्चित् आभास पाकर उस विषय के वास्तविक सत्य को अन्वेषण करने की चेष्टा की है। पृथिवी की सकल शिक्षित जातियें जिस प्रकार बहिर्जगत् का आश्रय ग्रहण करके सूक्ष्मजगत् में प्रवेश किया करती हैं, पूज्यपाद महर्षिगण ने वैसा न करके प्रथम अन्तर्जगत् का विस्तारित ज्ञान प्राप्त करके तब सर्वसाधारण के कल्याणार्थ उसको बहिर्जगत् में प्रकाशित करने का यत्न किया था। इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्र सात अङ्गों में विभक्त होकर सम्पूर्ण हुए हैं। परन्तु पृथिवी की अन्यान्य शिक्षित जातियों के दर्शनशास्त्र वैसे न होकर वैचित्र्यमय और असम्पूर्ण रहे हैं।

सृष्टितत्त्व की पर्य्यालोचना करने से सहजही जाना जासक्ता है कि त्रिगुणमयी प्रकृति के राज्य में सर्वत्रही तीन तीन विभाग विद्यमान हैं, यथाः—वात पित्त और कफरूपिणी शरीररक्षा की त्रिविधशक्ति, मनुष्य की त्रिविध प्रकृति, त्रिविध कर्म इत्यादि। इसी प्रकार सात रीति के भावों के अवलम्बन से सृष्टिराज्य के सप्तधातु, सप्तवर्ण, सप्तदिवस, सप्तऊर्द्ध्वलोक, सप्तअधोलोक, सप्तरत्न, सप्त अज्ञानभूमि, सप्तज्ञानभूमि, इत्यादि सप्तविध विभाग सकल स्थानों में ही परिलक्षित होते हैं। उक्तरीति से सप्तज्ञानभूमियों को अतिक्रम करके क्रमशः परमपद लाभ करने के अर्थ जिस वैदिक दर्शन विज्ञान का आविर्भाव हुआ है वह भी इन सप्त ज्ञानभूमियों के अनुसार ही सप्तभागों में विभक्त है। इन सात दर्शनों में से दो पदार्थवाददर्शन, दो सांख्यप्रवचन दर्शन, और तीन मीमांसा दर्शन हैं। आधुनिक पुस्तकों में जो षड्दर्शन नाम देखा जाता है वह केवल जैन और बौद्धों के अनुकरण से प्रचारित हुआ है, क्योंकि उनके दर्शनशास्त्र षड्दर्शन नाम से अभिहित होते थे इसी से नास्तिकदर्शन के अनुकरण से वैदिक षड्दर्शन नाम प्रचारित हुआ था। किसी भी आर्षग्रन्थ में षड्दर्शन शब्द नहीं देखने में आता है। विशेषतः बहुत शताब्दियों से मीमांसादर्शन के सब सिद्धान्त ग्रन्थ लुप्त होजाने से मध्यमीमांसा दर्शन का एक भी सिद्धान्तग्रन्थ मिलता नहीं था। इन सब कारणों से ही अज्ञानमूलक षड्दर्शन शब्द हमारे साहित्य में क्रमशः प्रचलित हो पड़ा है। वास्तव में न्याय और वैशेषिक ये दोनों पदार्थवाद के दर्शन, योग और सांख्य ये दोनों सांख्य प्रवचन दर्शन और वेदोक्त कर्म उपासना एवं ज्ञान इन काण्डत्रयों के अनुसार कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा (भक्तिमीमांसा) तथा ब्रह्ममीमांसा ये तीनों मीमांसादर्शन, इस प्रकार सप्त दर्शन स्वतः सिद्ध हैं।

दर्शन ग्रन्थों के अभाव और दार्शनिक शिक्षा के लोप होजाने से सनातन धर्म्म की वर्त्तमान दुर्गति हुई है। आजकल स्वधर्म्म में अविश्वास, परधर्म्म ग्रहण में इच्छा, सदाचारवर्जन, पूज्यपाद महर्षिगण के आदेशों का उपहास, वेद और पुराणों पर अश्रद्धा, साम्प्रदायिक विरोध, अलौकिक अन्तर्राज्य पर अविश्वास, परलोक के भय का राहित्य, देवदेवी और ऋषि पितरादि के अस्तित्व में सन्देह, कर्म्मकाण्ड पर अनास्था, साधु और ब्राह्मणों पर अभक्ति, वर्णाश्रमधर्म्म की उपेक्षा, जगत् को पवित्र करनेवाले आर्य्य नारियों के धर्म्म के मूलोच्छेद में प्रवृत्ति, जप ध्यानादि साधनमार्ग पर अरुचि इत्यादि आर्य्यत्व नाशकारी जो प्रबलदोष उत्पन्न हुए हैं यह केवल वैदिकदर्शनों की शिक्षा के अभाव से ही हुए हैं इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

न्यायदर्शन की शिक्षा इस समय सम्पूर्णरूप से नहीं होती है। पहिले की तरह इस समय प्राचीन न्याय की वास्तविक शिक्षापद्धति नहीं है, यह कहने से भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस समय प्राचीन न्याय के स्थान में नवीन न्याय का ही अधिक प्रचार देखाजाता है।

वशेषिकदर्शन के उपयोगी आर्ष भाष्य के अभाव होने से उसकी चर्चा एक प्रकार उठही गई है ऐसा कहने से भी चल सक्ता है।

योग दर्शन पहिले तो कठिन शास्त्र है, और उसके साथ अन्तर्जगत् का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध होने से उसकी यथार्थरूप से अध्ययन और अध्यापन की प्रथा एकबारही उठगई है। क्योंकि योगदर्शन के आचार्य्य को योगी होना आवश्यक है। किन्तु इस समय उस प्रकार के वास्तविक योगी के अभाव होने से ही इस दर्शन की यथार्थ शिक्षा का अभाव होपड़ा है।

सांख्यदर्शन की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस समय कोई उसको आधुनिक दर्शन कहते हैं, कोई उसको प्रक्षिप्त विषयपूर्ण कहकर घृणा करते हैं, और कोई कोई नास्तिक दर्शन कहकर उसका परिचय देते हैं। कई हज़ार वर्षों से उसका आर्ष भाष्य न मिलने से और आजकल जो उसका भाष्य मिलता है वह जैनधर्म्मावलम्बी आचार्य्य का बनाया हुआ होने से ही इस प्रकार की विशृङ्खलता का कारण उपस्थित हुआ है। विज्ञानभिक्षु जैनाचार्य्य वा बौद्धाचार्य्य थे इसमें अब कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि उन्होंने जिस भाव से सांख्यदर्शन को अपने भाष्य द्वारा प्रतिपादन करने की चेष्टा की है उससे स्पष्टही ज्ञात होता

है कि वे सनातन धर्म्मावलम्बी नहीं थे। उन्होंने अप्रासङ्गिक रीति से वैदिकी हिंसा की निन्दा, लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष विज्ञान को परिवर्तन करते हुए ईश्वर की सिद्धि के सम्बन्ध में अनुमेत सिद्धान्त का प्रतिपादन, शास्त्रोक्त देवतादि का खण्डन आदि जो किया है उसको पढ़ने सेही निरपेक्ष दार्शनिक व्यक्तिमात्र ही एक वाक्य से स्वीकार करेंगे कि वे सनातनधर्म्म के विरोधी अन्य किसी सम्प्रदाय के आचार्य्य थे। अबतक साङ्ख्यदर्शन पर जो सब टीकाएं प्रकाशित हुई हैं उनके बनानेवालों ने जैनाचार्य्य विज्ञानभिक्षु के मत का अनुसरण करके ही वे सब बनाई हैं।

दर्शनशास्त्र का वास्तविक प्रचार करना होगा तो प्राचीन न्याय दर्शन का अधिक प्रचार, और ऋषियों के अभिप्रायानुसार भाष्य के साथ वैशेषिक दर्शन का प्रचार विशेष आवश्यक है। श्रीभगवान् व्यासकृत भाष्य को अव लम्बन करके योगी महापुरुषगण के द्वारा प्रणीत विस्तृत भाष्य के साथ योग दर्शन भी प्रचारित होना आवश्यक है। साङ्ख्यदर्शन का भाष्य सूत्रकार के अभिप्राय के अनुसार तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों की सहायता से नूतनपद्धति से प्रणीत होकर प्रचारित होना आवश्यक है।

तीनों मीमांसा दर्शनों में घोर विप्लव उपस्थित हुआ है। पूज्यपाद महर्षि जैमिनिकृत कर्म्म मीमांसादर्शन अतिबृहत् होने पर भी वह असम्पूर्ण और एकदेशी है। जैमिनिदर्शन में केवल वैदिक कर्म्मकाण्ड का विज्ञान सुन्दररूप से वर्णित है किन्तु वर्त्तमान समय में वैदिक यागयज्ञ का प्रचार प्रायः लुप्त हो जाने से इस दर्शनशास्त्र द्वारा इस समय किसी प्रकार के हमारे विशेष उपकार के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं है।

धर्म्म क्या है, साधारण और विशेषधर्म्म में भेद क्या है, वर्णधर्म्म क्या है, आश्रम धर्म्म क्या है, पुरुषधर्म्म क्या है, नारी धर्म्म क्या है, जन्मान्तर वाद का विज्ञान क्या है, परलोक में गति किस प्रकार होती है, संसार का रहस्य क्या है, षोडश संस्कार का विज्ञान क्या है, संस्कार शुद्धिद्वारा किस प्रकार क्रिया शुद्धि होती है, उद्भिज्जादि योनियों से मनुष्य योनि में किस प्रकार जीव क्रमशः प्रवेश करता है, मनुष्य पुण्यकर्म्म करके किस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त होता है, कर्म के भेद कितने हैं, क्रियाशुद्धि द्वारा मनुष्य किस प्रकार मुक्त होता है इत्यादि कर्म्म मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार का मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त ग्रन्थ बहुत काल से लुप्त अवस्था में

था। इस समय श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के नेताओं के यत्न से एक विस्तृत सूत्रग्रन्थ प्राप्त हुआ है और उसका भाष्य भी संस्कृत भाषा में बनरहा है।

कर्म्ममीमांसा यदिच लुप्त हुई थी तथापि उसका एक वृहत् ग्रन्थ पाया जाता था किन्तु दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा वा भक्तिमीमांसा) का कोई ग्रन्थ भी नहीं मिलता था। इस समय उसका भी एक सिद्धान्तभूत सूत्रग्रन्थ मिला है और उसका संस्कृत भाष्य प्रणीत होकर प्रकाशित होगया है। भक्ति किसको कहते हैं, भक्ति के भेद कितने प्रकार हैं, उपासना के द्वारा मुक्ति किस प्रकार सम्भव है, भगवान् का आनन्दमय स्वरूप क्या है, भगवान् के ब्रह्म ईश और विराट् इन तीन रूपों में भेद क्या है, भक्ति के प्रधान प्रधान आचार्य्य ऋषिगण के स्वतन्त्र स्वतन्त्र मत क्या है, सृष्टि का विस्तृत रहस्य क्या है, अध्यात्म सृष्टि क्या है, अधिदैव सृष्टि क्या है, अधिभूत सृष्टि क्या है, ऋषि किसको कहते हैं, देवदेवी किसको कहते हैं, पितृ किसको कहते हैं, उनके साथ जगत् का सम्बन्ध क्या है, अवतार कैसे होते हैं, अवतार कितने प्रकार के हैं, भक्ति के द्वारा मुक्ति किस प्रकार होसक्ती है, चार प्रकार के योग का लक्षण और उपासना का भेद कितने प्रकार का है, उपासना और भक्ति के आश्रय से साधक किस प्रकार मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है कर्म्म मीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, दैवीमीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, एवं ब्रह्ममीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है इत्यादि विषय इस दर्शन शास्त्र में वर्णित है। इसी दर्शनशास्त्र के लोप होने से योग और उपासना इन दोनों की एकता सिद्ध करने के विषय में उन्नत ज्ञानियों को भी विमोहित होते हुए देखा गया है।

सप्तम ज्ञानभूमिका अन्तिम दर्शन ब्रह्ममीमांसा है इसको वेदान्त कहाजाता है। उसका अति उत्तम भाष्य श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्य प्रणीत पाया जाता है। किन्तु इतने दिनतक दैवीमीमांसा दर्शन के लुप्त अवस्था में रहने से और उपासक सम्प्रदायों के अद्वैतवाद को द्वैतवाद में परिणत करने की चेष्टा करने से वेदान्त विचार में अनेक असुविधाएँ उत्पन्न हुई हैं। यदि मध्यमीमांसा बीच के समय में विलुप्त न होती तो द्वैत और अद्वैतवाद का विरोध कदापि संघटित न होता।

न्यायदर्शन का जो आर्ष भाष्य मिलता है वह अतीव विस्तृत है ही। वैशेषिकदर्शन का विस्तृत भाष्य संस्कृत में प्रणीत होरहा है। योगदर्शन का

विस्तृत भाष्य पूर्व लिखित रीति का प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिकपत्र में प्रकाशित हुआ है।

सांख्यदर्शन का संस्कृत भाष्य भी पूज्यपाद महर्षिगण के मत के अनुसार प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश उक्त पत्र में प्रकाशित भी हुआ है, इस भाष्य को पढ़कर-शिक्षित मण्डली विस्मित हुई है, और सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है यह सबही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। कर्म्ममीमांसा दर्शन सभाष्य संस्कृत भाषा में शीघ्र प्रकाशित होगा। दैवीमीमांसा दर्शन अर्थात् मध्यमीमांसा दर्शन का भाष्य सम्पूर्ण होगया है और उसके तीनपाद सभाष्य संस्कृत भाषा में उक्त पत्रिका में प्रकाशित होचुके हैं। वेदान्तदर्शन का समन्वय भाष्य भी संस्कृत में प्रकाशित होगा। प्राचीन आर्य्यगण का मत ठीक ठीक उद्धृत करके और अन्यान्य निम्नज्ञानभूमियों के अधिकारों को उन समस्त दर्शनोक्त ज्ञानभूमियों के ठीक ठीक विज्ञान के अनुसार प्रतिपादन करके इस वेदान्त भाष्य को सर्वाङ्गसुन्दर करने की चेष्टा कीजायगी। इन सात प्रकार के दर्शन शास्त्रों का ठीक ठीक प्रचार और इनकी यथाविधि शिक्षा देने के अर्थ इन सातों दर्शनों के संस्कृत भाष्य प्रणयन का कार्य्य बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। इस समय हिन्दीभाषा के पाठकवर्ग के अर्थ यह सब दर्शन ग्रन्थ सरल हिन्दीभाषा में विस्तृत भाष्य के साथ क्रमशः प्रकाशित करने की पूरी इच्छा है। और साथही साथ श्रीमद्भगवद्गीता का एक अति उत्तम भाष्य (जिस में श्रीगीताजी के अध्यात्म अधिदैव अधिभूत ये तीनों स्वरूप दिखाये जायें) प्रकाशित करना निश्चय किया गया है।

हमारे सुहृद्गण में से अनेकों ने परामर्श दिया है कि ज्ञानभूमि के क्रम के अनुसार पहले न्याय और वैशेषिकादि दर्शन प्रकाशित होना उचित है। किन्तु हमने विचार करके देखा है कि जब इससे पहले ही से ये दर्शन हिन्दी में सामान्य रूप से प्रचारित हैं तब इनका विस्तृत भाष्य के साथ प्रचार यद्यपि आवश्यक है तथापि पहलेही इनको प्रकाश करने से पाठकों का तादृश चित्त विनोदन नहीं होगा, दूसरे दैवीमीमांसा आदि दर्शन ग्रन्थों का प्रचार जब बिलकुल ही नहीं था तो इनके पहिले प्रचारित होने से पाठकों की आनन्द, उत्साह और बहुत कुछ अभिज्ञता वृद्धि की विशेष सम्भावना है, तीसरे वैदिक दर्शनशास्त्र प्रचार के कार्य्य में जब हम प्रवृत्त हुए हैं तो प्रथम ही भगवद्भक्ति प्रकाशक दैवीमीमांसा दर्शन और भगवद्गीतारूपी भगवद्वाक्य का प्रकाश अत्यन्त कल्याणकर है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

उपर्युक्त सात वैदिकदर्शन ग्रन्थ प्रकाश के साथ साथ हम योग के क्रिया सिद्धांश सम्बन्धीय पांच ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने की इच्छा करते हैं। उपासना का मूलभित्तिरूप योग का क्रिया सिद्धांश चारभागों में विभक्त है। यथा—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों प्रणालियों के अलग अलग अङ्ग, अलग अलग ध्यान और अलग अलग अधिकार निर्णीत हैं। नाम और रूप के अवलम्बन से जो साधन प्रणाली निर्णीत हुई है उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग सोलह अङ्गों में विभक्त है और इसके ध्यान को स्थूलध्यान कहते हैं।

स्थूलशरीर की सहायता से चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उस को हठयोग कहते हैं। हठयोग सात अङ्गों में विभक्त है और हठयोग का ध्यान ज्योतिर्ध्यान नाम से अभिहित है।

लययोग और भी अधिक उन्नत अवस्था का साधन है। जगत् प्रसविनी कुल कुण्डलिनी शक्ति जो सकल शरीर में ही विद्यमान है उसी शक्ति को गुरूपदेशानुसार जाग्रत् करके और सहस्रार में लय करके चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उसको लययोग कहते हैं। लययोग नौ अङ्गों में विभक्त है और इसके ध्यान का नाम बिन्दु ध्यान है।

योगप्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ योगप्रणाली का नाम राजयोग है। उल्लिखित त्रिविध साधक को उन्नत अवस्था में राजयोग की सहायता लेनी ही पडती है। केवल विचारशक्ति द्वारा चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उसको राजयोग कहते हैं। राजयोग सोलह अङ्गों में विभक्त है और उसका ध्यान ब्रह्मध्यान नाम से अभिहित होता है। उपर्युक्त तीन योगप्रणालियों की समाधि को सविकल्प समाधि कहते हैं किन्तु राजयोग की समाधिही निर्विकल्प समाधि है।

उपर्युक्त चार प्रकार की योगप्रणाली के अङ्ग और उपाङ्ग वेद, आर्षसंहिता, पुराण एवं तन्त्रादि में अनेक स्थानों में ही देख पडते हैं। किन्तु अधिकारानुसार इन प्रत्येक की क्रियाएँ अलग अलग और यथाक्रम किसी ग्रन्थ में भी नहीं मिलती हैं। प्राचीन समय में गुरु और शिष्य सम्प्रदाय का अधिकार उन्नत था इसीसे ही इस प्रकार साधन विभाग की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु वर्तमान समय में इन चारों साधन प्रणालियों के अलग अलग सिद्धान्त

ग्रन्थ न मिलने से योगी और उपासक सम्प्रदायों में घोर विप्लव उपस्थित हुआ है।

हमने मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता और राजयोगसंहिता यह चार सिद्धान्त ग्रन्थ पाये हैं । इनमें प्रत्येक साधन प्रणाली विस्तृत और सुन्दररूप से वर्णित है। इन चारों ग्रन्थों के अतिरिक्त गुरुलोग इनके अवलम्बन से शिष्यों को किस प्रकार शिक्षा देवें इस विषय का योगप्रवेशिका नामक और एक ग्रन्थ है । उक्त पाचों ग्रन्थ प्राय विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिक पत्र में प्रकाशित किये गये हैं । क्रमश हिन्दी अनुवाद के साथ उनको प्रकाशित करेंगे । इस समय प्रथम में मन्त्रयोगसंहिता का हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित करना प्रारम्भ किया गया ।

उपर्युक्त सात दर्शनग्रन्थ और पाच योगग्रन्थ हिन्दीभाषा में प्रकाशित होने से हिन्दी के दार्शनिक जगत् की उन्नति के विषय में एक असाधारण परिवर्त्तन ससाधित होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

वेद का ज्ञानकाण्ड उपनिषद् है उनके सार भूत अर्थ को लेकर श्रीभगवान के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया है उस सर्व्व शास्त्रमयी गीता का एक वृहत्भाषाभाष्य प्रणयन किया जा रहा है जिसको क्रमश प्रकाशित करने का विचार है । आज तक इस प्रकार का आध्यात्मिक व्याख्यापूर्ण भाष्य प्रकाशित नहीं हुआ था ।

इस प्रकार दर्शनों में से दैवीमीमांसादर्शन का हिन्दी संस्करण, योगसंहिताओं में से मंत्रयोगसंहिता और श्रीमद्भगवद्गीता का भाषाभाष्य प्रकाशित करना पहिले पहिल प्रारम्भ किया गया है। आशा है हिन्दी भाषोन्नति प्रेमी, दार्शनिक ज्ञानेच्छुक, योगसाधनाभ्यासी तथा योग के क्रियासिद्ध अंश के जिज्ञासु और सर्वोत्कृष्ट गीतोपनिषद् के ज्ञान को समझने की इच्छा करनेवाले धार्मिक व्यक्ति इस सत्पुरुषार्थ को देखकर प्रसन्न होंगे और इनसे लाभ उठाकर हमारे परिश्रम को सफल करेंगे ।

ॐ परमात्मने नमः ।

दैवीमीमांसा दर्शन ।

भाष्यभूमिका ।

"जो नित्य निर्विकार एक और विभु हैं, जो चेतन और जड़ एवं पुरुष और शक्ति हैं, जो निर्गुण होने पर भी सगुण हैं, जो एक होकर भी कारण से कार्य्यब्रह्मपर्य्यन्त बहु भावों से प्रतीयमान हैं, जो जगत् की कल्याण-कामना से आद्य और अद्वितीयरूप परित्याग करके नाना शरीर और रूपों से वर्त्तमान हैं उसी रस के सागर सच्चिदानन्दमय परब्रह्म परमात्मा को भक्तिभाव से वारम्वार प्रणाम करता हूँ। जो रसरूप होकर रसभाव-परिप्लुत और भक्तियुक्त मुमुक्षुगण को निरन्तर परमानन्द सागर में उन्मज्जित और निमज्जित करते करते अन्त में स्वस्वरूप करदेते हैं उनको पुनः पुनः अभिवादन करता हूँ"। * "त्रिकालदर्शी परम-करुणामय सर्वज्ञ और मानवों के आदिगुरु महर्षि अङ्गिरा,

---

* यो नित्यो निर्विकारः प्रकृतिरपि पुमान्
निर्गुणः सद्गुणश्च ।
भात्येकोऽनेकरूपो विविधतनुतया
कारणात् कार्य्यतश्च ॥
आनन्दाब्धौ रसात्मा निरवधि रसिकान्
भक्तियुक्तान् मुमुक्षून् ।
मग्नीकुर्य्यात्तमीशं श्रय इह परमं
भक्तिभावैकगम्यम् ॥

जिनके करुणासिन्धु का बिन्दुमात्र प्राप्त होकर ही जीवगण देवदुर्लभ निःश्रेयस लाभ करने में समर्थ होते हैं उन्हींके ही श्रीपदारविन्द का ध्यान करते हुए उनके ही पदचिह्न के अनुसरणपूर्वक यथाशक्ति इस भाष्य के प्रणयन में प्रवृत्त होता हूँ" । *

"आत्मेत्येवोपासीत" "तदात्मानमेवावेत्" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" अर्थात् आत्मा की ही उपासना करना उचित है, आत्मा को ही ज्ञात होना उचित है क्योंकि आत्मा को जानने पर ही मृत्युभय दूर होजाता है, इन सब श्रुतिवचनसमूह की चरितार्थता सम्पादन के अर्थ सिद्धान्त कियागया है कि परस्पर सम्बन्धयुक्त वैदिक सप्त-दर्शन विज्ञान अध्यात्मराज्य में प्रवेश करनेवाले मुमुक्षुओं के अर्थ दिव्य नेत्रस्वरूप हैं ।

इस स्थावरजंगमात्मक विशाल संसार में प्रथमतः जीव उच्च निम्न अगणित उद्भिज्ज पिण्डों में प्रवेश करके, पीछे स्वेदजों के अगणित पिण्डों में प्रवेश करता है । तद-नन्तर प्रकृति माता के अनुग्रह से पुनः क्रमोन्नति लाभ करताहुआ अण्डजों की अनेक योनियों को प्राप्त होता है । इस प्रकार जीव क्रमशः जरायुज योनि को प्राप्त होकर

* सतास्त्रिकालज्ञगुरोः कृपाकणम्,
भक्ता अवाप्याङ्गिरसः कृतार्थताम् ।
भेजुर्मुहुस्तत्पदपङ्कजं स्मरन्,
विधास्यते भाष्यमिदं यथामति ॥

अन्त में मानव देह को प्राप्त होता है। किन्तु मनुष्य शरीर लाभ करके भी जीव जन्ममरणरूपी कठोर दुःख के हाथ को अतिक्रमण नहीं करसक्ता। अधिकन्तु वासनाजाल में विजडित होकर जन्ममरणरूप संसार प्रवाह में स्थायीरूप से प्रवाहित होता रहता है। केवल उपासनाद्वारा आत्म-साक्षात्कार लाभ होने से ही जीव परमानन्दरूप मुक्तिपद प्राप्त होसक्ता है। यही उल्लिखित श्रुतिसमूह की चरितार्थता है। श्रीभगवत्सान्निध्य प्राप्ति के उपाय विशेष का नाम ही उपासना है। भक्ति विज्ञान के अनुसार साधन धारणा और आत्मज्ञान के द्वारा क्रमशः परमात्मा का सान्निध्य लाभ होता है और अन्त में तत्वज्ञानी भक्त निर्वाण मुक्ति लाभ करता है। श्रीगीतोपनिषद् में स्वयं भगवान् ने आज्ञा की है कि "हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, सुकृती व्यक्तिगण मेरा भजन करते हैं परन्तु सुकृत के तारतम्य के अनुसार वे चार प्रकार के हैं। यथाः—आर्त्त अर्थात् रोगादिजनित दुःख से पीड़ित, जिज्ञासु अर्थात् जिनमें भगवान् के जानने की इच्छा होती हैं, अर्थार्थी अर्थात् परमार्थरूपी मुक्ति पद का इच्छुक एवं ज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञानवान्। ये चार प्रकार के सुकृतिशाली व्यक्ति मुझको भजन करते हैं। उक्त चार प्रकार के भक्तों में सर्वदा मेरे में निष्ठावान् और एकमात्र मेरे में ही भक्तिविशिष्ट ज्ञानी भक्त ही श्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी भक्त का अतिशय प्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है। (ज्ञानियों का देहादि में अहंबुद्धि का अभाव होने

के कारण उनका चित्त-विक्षेप नहीं होता है, इस कारण वे ही नित्ययुक्त और अनन्य भक्त होसक्ते हैं। दूसरे नहीं होसक्ते।) ये चार प्रकार के भक्त ही महान् हैं किन्तु ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है, क्योंकि मदेकचित्त उस ज्ञानी भक्त ने सर्वोत्कृष्ट गति स्वरूप मुझको ही आश्रय लिया है। भक्तगण बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान् होकर "वासुदेव ही यह जगत् है" सर्वत्र इस प्रकार की आत्म दृष्टि द्वारा मुझको परिज्ञात होते हैं, वैसे महात्मा दुर्लभ हैं"। * कर्म्मकाण्ड की सहायता से आधिभौतिक शुद्धि लाभ करके उपासनाकाण्डद्वारा आधिदैविक शुद्धि लाभानन्तर ज्ञानी भक्त परमात्मा को "ब्रह्म ही जगत् है" इस भाव से दर्शन करके उल्लिखित भगवद्वाक्य की चरितार्थता सम्पादन किया करते हैं। अपौरुषेय वेद के उपासनाकाण्ड की पुष्टि के अर्थ पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराद्वारा इस दर्शन

---

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

श्रीगीतोपनिषद्।

विज्ञान का प्रकाश हुआ था । उसके अनन्तर महर्षि शाण्डिल्य एवं भगवान् शेष आदि द्वारा भी यह दर्शन विज्ञान प्रकाशित हुआ था ।

उन्नत ज्ञानसम्पन्न मनुष्य जब अन्तर्राज्य में प्रवेश करता है तब दार्शनिक नेत्रों की सहायता विना कदापि वह गम्य स्थान पर जाने में समर्थ नहीं होता है । वेद अभ्रान्त है इसी कारण वैदिक विज्ञान भी सर्वाङ्ग सम्पूर्ण और सुन्दर है एवं निर्दिष्ट विभागों में विभक्त है । सप्तज्ञानभूमि के अनुसार वैदिक दर्शन भी सात हैं । इन सात ज्ञानभूमियों के नाम और लक्षण पूज्यपाद महर्षिगण द्वारा इस प्रकार से उक्त हुए हैं कि "प्रथम ज्ञानभूमि का नाम ज्ञानदा, द्वितीय ज्ञानभूमि का नाम संन्यासदा, तृतीय योगदा, चतुर्थ लीलोन्मुक्ति, पञ्चम सत्यदा, षष्ठ आनन्दप्रदा और सप्तम परात्परा । मैं समस्त ज्ञातव्य विषय ज्ञात हुआ हूँ यह प्रथम भूमि का अनुभव है, परित्याज्य पदार्थसमूह को त्याग करदिया है यह द्वितीय भूमि का अनुभव है, प्राप्य शक्तियों को प्राप्त किया है यह तृतीय भूमि का अनुभव है, यह दृश्यमान समस्त जगत् माया का ही लीलाविलासमात्र है इसमें मेरी कोई भी अभिलाषा नहीं है यह चतुर्थ भूमि का अनुभव है, यह जगत् ही ब्रह्म है यह पञ्चम भूमि का अनुभव है, ब्रह्म ही जगत् है यह षष्ठभूमि का अनुभव है और मैं अद्वितीय निराकार निर्विकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हूँ यह सप्तम ज्ञानभूमि का अनुभव है । इस

सप्तम ज्ञानभूमि को प्राप्त होकर ही ज्ञानी महात्मा ब्रह्मस्वरूप होजाता है"। *

निखिल शास्त्रों में प्रधान प्रधान सकल शास्त्रही चतुर्व्यूह द्वारा सुरक्षित हैं, उपासनाकाण्ड की मीमांसा रूपी यह दैवीमीमांसादर्शन भी उल्लिखित नियमानुसार चतुर्व्यूह द्वारा सुरक्षित है। यथा :– सृष्टि स्थिति प्रलय का स्वरूप, इन तीनों का हेतु, मुक्ति और मुक्ति का उपाय। दैवीमीमांसादर्शन के अनुसार पूर्वोक्त चतुर्व्यूह के आश्रय

---

* ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्यदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दप्रदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
प्रथमो भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः ॥
मायाविलसितं चैतद्दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥
जगद् ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः।
ब्रह्म एव जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥
इमां भूमिमुपपन्नैव ब्रह्म सारूप्यमाप्यते।

द्वाराही मुमुक्षुगण भव पारावार पारङ्गत होसक्के हैं। पदार्थ-वादी न्याय और वैशेषिक दर्शन जिस प्रकार पदार्थज्ञान द्वारा तत्त्वज्ञानप्राप्तिपूर्वक मुक्तिपथ प्रदर्शन कराते हैं, योग दर्शन भी जिस प्रकार एकतत्त्व प्राप्ति पुरःसर क्रमशः समाधिद्वारा निर्व्वाणपथ प्रदर्शन कराता है, सांख्यदर्शन जिस प्रकार त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को लक्ष्य करके मुक्ति के अर्थ सांख्य विज्ञान का विधान करता है और कर्म्ममीमांसा दर्शन जिस प्रकार संस्कार शुद्धि और क्रिया शुद्धिद्वारा मुक्तिमार्ग में अग्रसर होने के अर्थ उपदेश प्रदान करता है; उसी प्रकार भक्तिशास्त्र दैवीमीमांसा दर्शन भी भगवद्भक्ति की सहायता से त्रिविध शुद्धि सम्पादन करता हुआ मुक्ति के द्वार को उद्घाटित कर देता है।

अन्तर्राज्य और बहिर्राज्य के मध्य भाग में अवस्थित होने से योगदर्शन जिस प्रकार निर्विरोधी और सर्वहित-कर है उसी प्रकार दैवीमीमांसा दर्शन भी कर्म्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के मध्यवर्त्ती होने से अविरुद्ध और सर्व हित-कर है। कोई दर्शन अपनी ज्ञानभूमि के अनुरोध से अन्य दर्शन के मत का खण्डन करे तो भी यदिच वह विशेष हानिजनक नहीं है, तथापि दैवीमीमांसा दर्शन का सर्व्वाऽविरोधितारूप विशेषत्व और महत्व अवश्य ही स्वीकार करना होगा। समतलभूमि पर पर्य्यटनशील पथिक यदि सहचारियों की पार्वत्यपथभ्रमण की क्रिया-कुशलता की निन्दा करके समतल भूमि के भ्रमण-कौशल की प्रशंसा

करे और इसी प्रकार पार्वत्यमार्ग-विचरणशील पथिक यदि अपनी भ्रमणकुशलता की प्रशंसा करतेहुए समतल भूमि पर भ्रमणशील व्यक्ति के भ्रमणकौशल की निन्दा करे, उस स्थल में किसी की कोई हानि नहीं होसक्ती। अधिकन्तु वह देश काल और पात्र भेद से उपकारक ही हुआ करती है। उसी तरह यदि एक दर्शन विज्ञान दर्शनानन्तर विज्ञान के किसी अंश विशेष पर दोषारोपण करे, यहांतक कि विशेष विशेष सिद्धान्त पर्य्यन्त खण्डित करे तौ भी उससे कोई क्षति नहीं होसक्ती। पक्षान्तर से जिस ज्ञानभूमि की प्राप्ति के अर्थ विज्ञान कहाजाता है उस विज्ञान की दृढ़ता और श्रेष्ठता ही सम्पादित होती है, किन्तु तौ भी इस दर्शन में इस प्रकार कोई खण्डन-मण्डन-प्रणाली अवलम्बित नहीं हुई है। सुतरां इस दर्शनशास्त्र की सार्वभौम दृष्टि अवश्य ही सर्वथा प्रशंसनीय है।

सकल शास्त्रों का ही सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त यह है कि "ब्रह्मा आदि से आरम्भ करके ऋषि महर्षि पर्य्यन्त सब ही शास्त्र-समूह के स्मारकमात्र हैं, उनके प्रणेता नहीं हैं"। * पूज्यपाद महर्षिगण नित्यस्थित ज्ञानराज्य से अभ्रान्त वैदिक शास्त्र समूह का केवल मात्र आविष्कार करते रहते हैं। चक्रायमाण काल के तीव्र निष्पेषण से किसी किसी शास्त्र का आविर्भाव और किसी किसी शास्त्र का तिरोभाव हुआ करता है। और किसी शास्त्रीय ग्रन्थ

* ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः॥

का कितनेक ऋषियों के द्वारा आविष्कार भी होता है।

महर्षि जैमिनि और महर्षि भरद्वाज प्रभृति द्वारा आविष्कृत कर्म्ममीमांसा दर्शन के आश्रय ग्रहण किये बिना जिस प्रकार विचित्र विशाल अथच दुरूह कर्म्मरहस्य हृदयङ्गम नहीं किया जासक्ता, उसी प्रकार भक्तिशास्त्र दैवीमीमांसा दर्शन के विज्ञान को हृदयङ्गम करने में असमर्थ होनेपर, चाहे किसी भी सम्प्रदाय का उपासक क्यों न हो वह अपने अधिकार के अनुसार सफलता लाभ करने में समर्थ नहीं होता है; अधिकन्तु स्वाधिकार प्राप्ति के विषय में भग्नमनोरथ होकर विषादग्रस्त होपड़ता है। दैवीमीमांसा दर्शन के रहस्य को न समझकर साम्प्रदायिक उपासकगण पथभ्रष्ट होने के कारण कभी तो कर्ममार्ग में जाकर अधिकार विरुद्ध आचरण करते हैं और कभी ज्ञानमार्ग में जाकर अनधिकार चर्चा में प्रवृत्त होते हैं। पक्षान्तर से अपनी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में अपने हाथ से ही कण्टकरोपण करते हैं। सुतरां ऐसी अवस्था में उस समय वे "इतो नष्टास्ततो भ्रष्टाः" होते हैं। अतएव कर्म्ममीमांसा जिस प्रकार सकल शाखा एवं सम्प्रदायों के ही कल्पसूत्र और स्मार्तानुशासन की परम सहायभूता है उसी प्रकार दैवीमीमासा दर्शन भी सकल प्रकार के उपासकों का ही परम आश्रय स्वरूप है यह निःसन्देह है।

वेद के काण्डत्रय के अनुसार मीमांसात्रय भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धयुक्त है, सुतरां मीमांसात्रय की ज्ञानभूमि

भी परस्पर नैकट्य भाव से सम्बद्ध हैं; किन्तु इन तीनों के पुरुषार्थ में यथेष्ट भेद भाव है। कर्म मीमांसा दर्शन कर्म्म को ही मुक्ति का साधन कहता है, दैवीमीमांसा दर्शन भक्ति को ही मुक्ति का उपाय कहकर वर्णन करता है और ब्रह्ममीमांसा वा वेदान्तदर्शन ज्ञान को ही मुक्ति का एकमात्र कारण कहकर प्रतिपन्न करता है। इस प्रकार नाना ज्ञानभूमियों के विज्ञान के अनुसार पुरुषार्थ की भिन्नता देखकर मुमुक्षुगण के विचलित होने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि अन्नमय शरीर के पोषण-विषय में यदि कोई कहे कि शारीरिक यन्त्रों में शरीर के पोषण के अर्थ मुखही प्रधान है, और कोई यदि कहे कि पाकस्थली ही प्रधान है एवं फिर कोई तृतीय व्यक्ति कहे कि हृदययन्त्र ही प्रधान है; ऐसे स्थल में तीनों मनुष्यों की बात ही सत्य होगी; क्योंकि अन्न प्रथमतः मुखद्वारा पाकस्थली में जाता है, और पीछे रसरूप होकर हृदय यन्त्र में प्रवेश करता है एवं वहां से शरीर में सर्वत्र सञ्चालित होकर रक्तरूप से शरीर की रक्षा और पुष्टिसाधन किया करता है। एक यन्त्र में अन्न के प्रवेश करने पर अपने आप ही अन्यान्य यन्त्रों में जाकर वह ठीक ठीक कार्य्य सम्पादन करता है। उसी प्रकार कर्म्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग, यह तीनों योग परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं ऐसा जानना होगा। सुतरां इस प्रकार मतभेद से लक्ष्यहानि की सम्भावना नहीं है। ज्ञानी भक्त अवश्यही कर्म्मयोगी और तत्त्वज्ञानी होगा।

उसी प्रकार कर्मयोगी भी स्वतःही अन्यान्य अधिकारद्वय को प्राप्त हुआ करता है। अत एव इस प्रकार मतभेद देख कर मुमुक्षुओं के क्षोभ-प्रकाश और चञ्चलता का कोई कारण नहीं है।

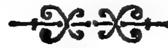
इस दर्शनशास्त्र में परमात्मा को आनन्द स्वरूप सिद्ध करने से सद्भाव में और चिद्भाव में आनन्द की व्यापकता स्वीकार कीगई है। इस प्रकार मुक्ति के द्वार को उद्घाटन करके उस निर्वाण परमानन्द पद प्राप्ति के अर्थ पूज्यपाद महर्षि अङ्गिरा ने इस भक्ति शास्त्र दैवीमीमांसा दर्शन का वर्णन किया है। इति।



ओं तत्सत्।

दैवीमीमांसा दर्शन।

रस पाद।



सकल शास्त्र के मूलभूत वेद में तीन काण्ड हैं कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड। और उस के अनुसार मीमांसादर्शन भी तीन प्रकार के हैं, कर्म-मीमांसा-दर्शन, उपासना-मीमांसा-दर्शन, और ज्ञान-मीमांसा-दर्शन। इसमें से कर्ममीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड के विज्ञान की मीमांसा की गई है इसको पूर्व मीमांसा भी कहते हैं। उपा-सना-मीमांसा-दर्शन में उपासनाकाण्ड के रहस्यों का वर्णन किया गया है, इसको मध्यमीमांसा वा दैवीमीमांसा भी कहते हैं। और ज्ञान-मीमांसा-दर्शन में ज्ञान काण्ड के तत्त्वों का निर्णय किया गया है, उसको उत्तरमीमांसा वा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं। कर्मकाण्ड का जैसा धर्म-विज्ञान ही मूल है, वैसेही उपासनाकाण्ड की दैवी-मीमांसा-दर्शन द्वारा प्रतिपादित भक्ति मूल है, इसी लिये दैवी-मी-मांसा-दर्शन का आरम्भ करने में पहला सूत्र वक्ष्यमाण रूप से कहा गया है।

अब भक्ति के विषय में जिज्ञासा की जाती है॥१॥

भक्ति उपासना का मूल है, इस लिये चित्तशुद्धि होजाने के बाद भक्ति के विषय में जिज्ञासा होनी चाहिये।

√ अथाऽतो भक्तिजिज्ञासा॥ १॥

"अथ" शब्द के उच्चारणमात्रही से मङ्गल होता है क्योंकि स्मृति में लिखा है कि "ओङ्कार और अथ शब्द दोनों ब्रह्माजी का कण्ठ भेदन करके निकले हैं इस कारण ये माङ्गलिक हैं"। * मङ्गलाचरण इसलिये किया जाता है कि जिस के द्वारा पाप का नाश हो, जिस कार्य का प्रारम्भ किया जाता है उस कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति हो, और शिष्टाचारानुमोदित श्रुति और स्मृति की तद्विषयक आज्ञा का परिपालन हो। क्योंकि श्रुति में लिखा है कि "समाप्ति-कामो मङ्गलमाचरेत्" अर्थात् कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति की इच्छा करनेवाला पुरुष मङ्गलाचरण करे।

"अथ" शब्द का आनन्तर्य अर्थ है अर्थात् निष्काम कर्मादि के द्वारा चित्तशुद्धि के अनन्तरही भक्ति विषयक जिज्ञासा करने का अधिकार प्राप्त होता है। "अतः" शब्द का हेतु अर्थ है क्योंकि भक्तिही जब उपासना का मूल है तो भक्ति के विषय में जिज्ञासा कर्त्तव्यही है ॥ १ ॥

भक्ति-जिज्ञासा-विषय में पहले जानने योग्य कौन पदार्थ है—

परमात्मा रसरूप और माया जड़रूपा है ॥ २ ॥

परमात्मा रसरूप अर्थात् आनन्दरूप है। श्रुति में भी

---

* ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

रसरूपः परमात्मा, जड़रूपा माया ॥ २ ॥

कहा है कि "परमात्मा रसस्वरूप है," "ब्रह्म आनन्दरूप है," "ब्रह्म के आनन्दरूप जानलेने से भय की निवृत्ति होजाती है," "आनन्द से सकल जगत् की उत्पत्ति होती है, आनन्द ही में जगत् की स्थिति और लय होता है," इत्यादि। * परमात्मा के वाक् और मन से अतीत होने पर भी जिज्ञासुओं के जानने के लिये सद्भाव, चिद्भाव, और आनन्दभाव, के द्वारा उनका निर्देश कियाजाता है। इन तीनों भावों के प्रतिपाद्य विषय एक होने पर भी कर्म-मीमांसा-दर्शन के द्वारा प्रधानतः सद्भाव का प्रतिपादन होता है, ब्रह्म-मीमांसा-दर्शन के द्वारा चिद्भाव का प्रतिपादन होता है, और दैवी-मीमांसा-दर्शन के द्वारा आनन्दभाव का प्रतिपादन होता है। जगद्धात्री महामाया जड़रूपा है अर्थात् परमात्मा की चेतनशक्ति के विना प्रकृति के द्वारा कोई कार्य नहीं होसकता है। प्रकृति माता सर्वत्र व्यापक चेतन-सत्ता के प्रभावसे ही परिणामिनी होकर अनन्त वैचित्र्य-मयी सृष्टिलीला का विस्तार करती है। जैसा कि श्रुति

* "रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"
"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"।
"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"। इत्यादि।

में भी कहा है कि "उन्हीं की ज्योति से सब ज्योतिर्मय हैं, सब की चेतन-सत्ता उन्हींसे सम्पन्न होती है"। "प्रकृति माया है और ब्रह्म माया का प्रेरक मायी है"। तथा स्मृति में भी कहा है "परमात्मा प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, उनकी वह शक्ति है और उनकेही सान्निध्य से प्रकृति में चेतनता आती है, जैसे चुम्बक के सान्निध्य से लोहे में कार्यकारिता आती है ऐसेही जड़ाप्रकृति पुरुष के सान्निध्य से ही सचेतना होकर सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्य किया करती है।" *

"गुणमयी माया के भीतर प्रवेश करके ब्रह्मही सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य किया करते हैं। जन्मरहित परमात्मा स्वकीय शक्तिरूपा गुणमयी अजा प्रकृति में चेतन सत्ता का सान्निवेश करते हैं"। † "पूर्व संस्कार के अनुसार स्पन्दनधर्मिणी

* "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"
"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"।
स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याऽहं प्रकृतिः शिवा।
तत्सान्निध्यवशादेव चैतन्यं मयि शाश्वतम्॥
जड़ाऽहं तस्य संयोगात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा"॥
"आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज!।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्"॥
"तं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः"।

प्रकृति में जब सृष्टि की सूचना होती है तब परमात्मा उस प्रकृति में अपनी चेतनसत्ता को प्रदान करते हैं जिस से सृष्टि का विकास हुआ करता है इत्यादि"। † ॥ २ ॥

रस और जड़ का तत्त्व स्पष्टतर करने के लिये लक्षण का निर्देश किया जाता है—

रस ज्ञानमय और जड़ अज्ञानमय है ॥ ३ ॥

रस ज्ञानात्मक है और जड़ अज्ञानात्मक है। आनन्द रूप परमात्मा की आनन्दसत्ता जगत् में सर्वत्र विद्यमान होने से उस आनन्द की प्राप्ति जीव को दो प्रकार से होती है, एक प्रकृति पर प्रतिबिम्बित आनन्द और एक साक्षात चिदानन्द। प्रकृति पर प्रतिबिम्बित जो आनन्द है वह वास्तविक आनन्द की छायामात्र है इसको सुख कहते हैं, और प्रकृति के पर पार में स्थित जो शुद्ध आनन्द है उस को आनन्द कहते हैं। श्रुति और स्मृतिमें कहा है "परमानन्द की स्थिति ब्रह्ममेंहीं है, अन्यान्य जीव उस आनन्द की छायामात्र भोग करते हैं"। * वह छाया माया के द्वारा आती है, माया भ्रमकारिणी है इसलिये माया से बद्ध अज्ञानी जीव वैषयिक सुख को ही वास्तविक आनन्द समझ

† दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

रसो ज्ञानमयो जड़श्चाज्ञानमयः ॥ ३ ॥

* एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्याऽन्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

वह अनुराग किस तरह का है ?–

भक्ति, स्नेह, प्रेम और श्रद्धा से अतिरिक्त अलौकिक ईश्वरानुरागरूपा है ॥ ७ ॥

परमात्मा में परम अनुरागरूपिणी भक्ति लौकिक स्नेह, प्रेम और श्रद्धा से भिन्न है। लौकिक प्रीति तीन तरह की होती है यथा–स्नेह, प्रेम, और श्रद्धा। पुत्र कन्या आदि में जो प्रीति होती है, उसे स्नेह कहते हैं। यह प्रीति निम्न-गामिनी है। स्त्री, मित्र आदि में जो प्रीति होती है उसे प्रेम कहते हैं। यह बराबरवालों में उत्पन्न होनेवाली है, और पिता माता आदि गुरुजनों में जो प्रीति होती है उसे श्रद्धा कहते हैं। उक्त तीन प्रकार की प्रीतियाँ लौकिक और नश्वर हैं, क्योंकि जगत् नश्वर होने के कारण इन का आश्रय नश्वर है। परन्तु भक्ति इन सबोंसे विलक्षण ही है क्योंकि भक्ति अविनश्वर परमात्मा में अलौकिक प्रीतिरूपा है ॥ ७ ॥

ईश्वरानुरागरूपिणी भक्ति कै प्रकार की है ?–

भक्ति दो प्रकार की है, गौणी और परा ॥ ८ ॥

भक्ति दो प्रकार की हैं, एक को गौणी और दूसरी को परा कहते हैं। साधन दशा की भक्ति गौणी है, और सिद्ध दशा की भक्ति परा है ॥ ८ ॥

स्नेहप्रेमश्रद्धाऽतिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा ॥ ७ ॥
सा द्विधा गौणी परा च ॥ ८ ॥

परा का लक्षण नीचे वर्णन किया जाता है ॥

स्वरूप प्रकाश करने के कारण पूर्ण आनन्द देनेवाली भक्ति को परा कहते हैं ॥ ६ ॥

भक्ति की परा दशा में भक्त को आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होजाता है । परमात्मा आनन्दरूप है, इसीलिये परा भक्ति-दशा में भक्त को जब सर्वव्यापी पूर्णस्वरूप आनन्दमय परमात्मा का दर्शन होता है तो पूर्णज्ञानी भक्त परमानन्दसागर में निमग्न होता है, जैसा कि श्रुति में लिखा है कि आनन्दरूप परमात्मा को लाभ करके भक्त आनन्दरूप हो जाता है । * जीवने अपने स्वरूप को भूलकर प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने के कारण प्रकृतिगत इच्छा सुख दुःख आदि धर्म को अपने में आरोप कर लिया है, इस लिये ही जीव को जन्म मृत्यु के चक्र में घटीयन्त्र की न्यांई भ्रमण करके आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है, क्योंकि आत्मा ने जब अपने को अभिमान के कारण प्रकृतिवत् मान लिया है तो प्रकृति से उत्पन्न स्थूलशरीर, सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर के साथ आत्मा का अवश्य ही सम्बन्ध होजायगा और इसी सम्बन्ध के कारण शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक सुख दुःखसमूह उस

स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा ॥ ६ ॥

* रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

को अवश्य भोगने पड़ेंगे। परन्तु जब भगवान् की कृपा से पराभक्ति के द्वारा साधक को यह ज्ञान होजायगा कि मैं स्थूल-शरीर सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर के द्वारा अवच्छिन्न जीव नहीं हूँ, शरीरगत सुख दुःख के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं सर्वतोव्याप्त पूर्ण आनन्दकन्द सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, तभी उस ज्ञानी भक्तको स्वरूप की प्राप्ति होती है और वह प्रकृति के पर पार में स्थित पूर्ण सच्चिदानन्द-सागर में निमग्न होता है। जैसा कि श्रुति स्मृति में लिखा है कि ज्ञानी भक्त आत्मा का साक्षात्कार करके परमपद को प्राप्त करते हैं। आनन्दरूप सर्वाधार परमात्मा में परा भक्ति के लाभ करने से साधक को और कुछ भी लाभ करने को अवशेष नहीं रहता है। निर्विकल्प समाधि-प्राप्त ज्ञानी भक्त को जो असीम आनन्द की प्राप्ति होती है सो वाक् के द्वारा वर्णन नहीं की जासक्ती है। इस रीति से सच्चिदानन्द-सागर में निमग्न होने से भक्त का समस्त संसार-बन्धन छिन्न होजाता है, पञ्चकोश के साथ आत्मा के सम्बन्ध होने से जो जीवभाव की उत्पत्ति हुई थी वह भाव नष्ट होजाता है और परा भक्ति को प्राप्त योगी भगवान् की आनन्दसत्ता को प्राप्त करके संसारचक्र के जन्म मृत्यु भय से मुक्त होजाता है * ॥ ६ ॥

---

*तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव !।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दाऽनुभवात्मनि॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते॥
तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनः
तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
अधोक्षजालम्भमिहाऽशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रसाधनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधाः
ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥
विनिर्धुताऽशेषमनोमलः पुमान्
असङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥
यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमान्
आचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥

अब गौणी भक्ति का लक्षण कहते हैं—

साधन के द्वारा लाभ करने के योग्य वैधी और रागात्मिका, इन दोनों भेदों से युक्त भक्ति गौणी है ॥ १० ॥

साधन के द्वारा गौणी भक्ति की प्राप्ति होती है । उस के दो भेद हैं, यथा—वैधी और रागात्मिका । साधन के द्वारा गौणी भक्ति की पुष्टि हुआ करती है । जब विधि और निषेध को मानकर साधक श्रवण, कीर्त्तन, जप, ध्यान, बहिर्याग, अन्तर्याग आदि भगवान् के प्रति भक्तिभाव के उत्पन्नकारी कार्य्यों को करता हुआ भक्तिभूमि में अग्रसर होता है, तभी उस दशा की भक्ति वैधी कहाती है । क्योंकि भक्ति की इस दशा में कर्तव्याकर्तव्यका नियम रहता है इसलिये इसका नाम वैधी है । परन्तु जब इस प्रकार से वैधी भक्ति का अनुष्ठान करते २ साधक के चित्त में

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवान्तर्बहिरात्मनो विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥
त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥
वैधीरागात्मिका-नाम-भिन्ना साधनलभ्या गौणी ॥ १० ॥

भगवान् के प्रति एक अलौकिक राग उत्पन्न होजाता है, जिससे वह भक्त दिन रात भक्तिभाव में मग्न होकर अपूर्व आनन्द का लाभ करता है, तभी साधक के चित्त में आनन्दामृत सिञ्चनकारी तैलधारा की न्याईं सदा अनवच्छिन्न उस भक्ति-प्रवाह को रागात्मिका कहते हैं ॥१०॥

गौणी भक्ति के अन्तर्गता वैधी भक्तिका स्वरूप वर्णन कियाजाता है—

विधि के द्वारा जिसका साधन होता है ऐसी वैधी भक्ति सोपानरूपिणी है ॥ ११ ॥

यथाविधि साधन होने के कारण प्रथम दशा की भक्ति को वैधी भक्ति कहते हैं। भक्ति की उन्नत भूमि पर पहुँचने के लिये यह सीढ़ीरूप है। जैसे सीढ़ी के द्वारा प्रासाद (छत) के ऊपर मनुष्य चढ़ सक्ता है वैसेही गुरु के उपदेशानुसार वैधी भक्ति के नवप्रकार के अङ्गों का साधन करते करते साधक धीरे २ योगसम्बन्धी प्रत्याहारभूमि को अतिक्रम करके भक्ति के आन्तर्-राज्य में प्रवेश करता है। वैधी भक्ति के नव अङ्ग हैं, यथा—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन। * इन सब अङ्गों के अनुसार साधक अपनी जीवन-

---

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा ॥ ११ ॥

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

चर्य्या जब भगवान् की सेवारूप में ही परिणत करदेता है, तब उसका चित्त सकलकलुष (पाप) से विमुक्त हो कर श्रीभगवान् की कृपा से उस हृदय-मन्दिर-विहारी उपास्य देव का अपूर्व आसनरूप बन जाता है। स्मृति में लिखा है कि जैसी प्रज्वलित अग्नि काष्ठसमूह को भस्म करदेती है ऐसेही भगवद्विषयिणी भक्ति साधक के चित्त से पापराशि को समूल निर्मूल करदेती है। भगवान् का मधुर नाम कर्णकुहर में प्रविष्ट होतेही हृदय का समस्त पाप दूर होता है। * श्रीभगवान् ने निज मुख से कहा है, कि मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता, योगियों के हृदय में भी नहीं रहता, परन्तु मेरे भक्तलोग जहाँ मेरा गुणगान किया करते हैं वही मेरा चिर निवासस्थान है। † श्रीगीता आदि में भी कहा है कि जो लोग अनन्यचित्त होकर भगवान् का स्मरण करते हैं उनके लिये भगवान् सुलभ हैं। ‡ पुण्य-सलिला भागीरथी जिस चरण से निकलकर समस्त संसार

* यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्स्नशः॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

† नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

‡ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

को पवित्र करती है उस चरणपङ्कज की सेवा करने से अनन्त जन्मों से सञ्चित चित्त की मलिनता शीघ्र नष्ट होजाती है । + इस प्रकार वैधी भक्ति का साधक श्रवण कीर्तनादि अङ्गों का विधिपूर्वक साधन करता हुआ पवित्र चित्त होकर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक वैधी भक्ति के अन्तिम तीन अङ्गों का अभ्यास करता है । इन तीनों अङ्गों की परिसमाप्ति रागात्मिका भक्ति में जाकर होती है । परन्तु अभ्यास की रीति पर भक्ति की वैधी दशा में भी इन तीनों का साधन होता है । भगवान् को प्रभु समझकर दासभाव से उनकी सेवा में चित्त लगाने का अभ्यास करना दास्यरूप अङ्ग का लक्षण है । भगवान् को प्रिय मित्र बनाकर उनके साथ मैत्रीभाव स्थापन करने के लिये यत्न करना सख्यरूप अङ्ग का लक्षण है, और ऐसा अभ्यास करते करते साधक की सकल इन्द्रियों का व्यापार जब भगवान् की विविधप्रकार की सेवा में ही अभ्यस्त होजाय तब वैधी भक्ति के अन्तिम साधनरूप आत्मनिवेदन भाव की प्राप्ति होती है । उस समय मन भगवान् के चरण कमल में, वचन उनके गुण गान में, हस्त उनके मन्दिरादि के मार्जन में, कर्ण उनकी सत्कथाश्रवण में, नेत्र उनकी मूर्त्ति के देखने में, अङ्ग उनके भक्तों के गात्र

+ यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती

स्पर्श करने में, घ्राणइन्द्रिय उनके चरणसरोज के सुगन्धाघ्राण में, जिह्वा उनको समर्पित प्रसाद के रसास्वादन में, चरण उनके द्वारा अधिष्ठित तीर्थसमूह में विचरण करने में, मस्तक उनके चरणों में प्रणाम करने में और सकल कामना उनकेही दासत्व में समर्पित होती है। * इस रीति से जब भक्त वैधी भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है तभी भगवान् की कृपा से उसके चित्त में भगवान् के प्रति एक अपूर्व प्रीति उत्पन्न होजाती है जिससे भक्त के हृदय में दिन रात अविरल धारावान् भक्तिस्रोत प्रवाहित होता रहता है। जैसा स्मृति में कहा है कि भगवान्

यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥

* स वै मनस्तस्य पदारविन्दयो-
वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं कुरुष्वाच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

की मधुर गुण-कथा का श्रवण और भगवद्रूप का ध्यान करते करते भक्त का चित्त जब एकाग्र होजाता है तभी भगवान् में शुद्धा रति और गंगा की पवित्र धारा की न्यांई अविच्छिन्ना मनोगति की प्राप्ति होती है। * इसीका नाम रागात्मिका भक्ति है ॥ ११ ॥

अब रागात्मिकानामिका भक्ति का वर्णन करते हैं।

रस का अनुभव करानेवाली आनन्द और शान्तिदायिनी भक्ति रागात्मिका है ॥ १२ ॥

गौणीभक्ति की अङ्गभूता रागात्मिका भक्ति के उदय

---

* ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरौष्ठ-
भासारुणायिततनुर्द्विजकुन्दपंक्तिः।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥
सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाश्रये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका ॥ १२ ॥

होने से साधक भगवान् में प्रीति होनेके कारण अलौकिक रस के अनुभव करने में समर्थ होता है । धारणा भूमि की दृढता होने से साधक का चित्त जब रात दिन भगवच्चरण-चिन्तन में ही निमग्न रहता है, तब वह भागवतप्रधान एक अपूर्व प्रीति रस के अनुभव करने में समर्थ होता है जिसके लिये स्मृति में कहागया है कि भक्ताग्रगण्य साधक भक्तिरस में द्रवीभूत होकर उसी रसपान में उन्मत्त होते हुए क्षणकाल के लिये भी अपने चित्त को उस चरण कमल से वियुक्त नहीं करते हैं । * भक्त का चित्त जब इस

* विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्याद्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्तमहताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥

प्रकार से भगवान् में निविष्ट होजाता है, तब भगवद्रस के आस्वादन से भक्त के हृदय में परमानन्दज्योति और शान्ति का उदय होता है यही रागात्मिका भक्ति की भिन्न भिन्न दशाओं में प्राप्त साधक के चित्त का अपूर्वभाव है। स्मृति में भी लिखा है कि भगवान् में इस प्रकार की रागात्मिका भक्ति के उदय होने से साधक का चित्त पुलकित होकर गद्गद होजाता है, और उनकी आंखों से दरदरित धारारूप से आनन्दाश्रु-प्रवाह बहने लगता है, और सकल साधनों की फलरूप पवित्र शान्ति उस भक्तशिरोमणि को प्राप्त हो-जाती है * ॥ १२ ॥

इस भाव के उदय होने से भक्त की कैसी दशा होती है सो कहते हैं।

जिसके ज्ञान से मत्तता, स्तब्धता और आत्मा-रामता होजाती है ॥ १३ ॥

---

* भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
यज्ज्ञानान्मत्तस्तब्धात्मारामत्वम् ॥ १३ ॥

रागात्मिका भक्ति में निमग्न साधक कभी मत्त, कभी स्तब्ध, और कभी आत्माराम होजाते हैं। योग की धारणा भूमि में पहुंचे हुए भक्त जब रस समुद्र के भिन्न भिन्न भाव में निमग्न होकर अपूर्व आनन्द और शान्ति को प्राप्त करते हैं तब उनके चित्त से विषयवासना उसी क्षण में नष्ट होजाती है और उस समय आनन्दसागर में उन्मज्जन और निमज्जनकारी भक्त के रसानुभव के तारतम्यानुसार उनके बहिर्लक्षण भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। रागात्मिका भक्ति में निमग्न साधक कभी तो रागामृतपान करके उन्मत्त होजाते हैं, कभी हृदय के अन्तःस्थल में रागरूप अमृत को पूर्णरूप से भरकर पूर्णकुम्भ की न्यांईं स्तब्ध और नीरव रहते हैं, और कभी हृदय कमल में विराजमान आत्मा में अपूर्व आसक्ति को प्राप्त होकर आनन्द की पवित्र धारा में अवगाहन करते हैं, यही रागात्मिका भक्ति का चरम फल है। जैसा कि स्मृति में लिखा है कि भगवान् में रागात्मिका भक्ति के लाभ करने से भक्त के चित्त से कोटि कोटि जन्मसञ्चित समस्त पाप विनष्ट होजाते हैं और उनके चित्त की विषयवासना भगवदनुरागकी पवित्र अग्नि में शुष्क काष्ठ की न्यांईं दग्ध होजाती है, तब उस भक्त को लोकलज्जा लोकभय इत्यादि किसी वस्तु का विचार नहीं रहता है। वह निर्लज्ज होकर कभी उच्चहास्य करते हैं, कभी आनन्दभाव से विगलित होकर नृत्य करते हैं और कभी भगवान् की मधुर गुणकथाओं को उच्चस्वर से गाते हुए

निर्लज्ज होकर सर्वत्र भ्रमण करते हैं* मधुपानलोलुप भ्रमर जैसे पुष्प-मधु के लाभ करतेही निस्तब्ध होकर उसको पान करता रहता है, ऐसेही वे भक्त कभी कभी भगवान् के आनन्दामृत को पान करते हुए निस्तब्ध रहते हैं, कभी भगवान् के विषय में अलौकिक वर्णन करते करते आनन्दाश्रुधारा से निज वक्षस्थल को स्नावित करते हैं और कभी आत्मा

* कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

में ही एकान्त रति प्राप्त कर जगत् को भूल जाया करते हैं। यही रागात्मिका भक्ति की अपूर्व महिमा है॥ १३॥

रागात्मिका भक्तियुक्त भक्त का भाव वर्णन करके भाव पदार्थ के साथ ईश्वर तथा कार्यब्रह्म का क्या सम्बन्ध है सो दिखाया जाता है—

ईश्वर, भावगम्य हैं, भाव शब्द के द्वारा प्रकाशित होता है, इसलिये कार्यब्रह्म, नामरूपात्मक है॥ १४॥

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः॥
निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
भावगम्य ईश्वरः शब्दद्योत्यश्च भावस्तस्मान्ना-
मरूपात्मकं कार्यब्रह्म॥ १४॥

भगवान् भावके द्वारा जाने जाते हैं । भाव, शब्द के द्वारा प्रकाशित होता है इसलिये जगत् नामरूपात्मक है । मन, वाणी और बुद्धि से अतीत होने पर भी भावुक साधक केवल भाव के द्वाराही भगवान् का साक्षात्कार करते हैं । श्रुति में भी कहा है, कि भाव के द्वारा गम्य, भाव और अभाव दोनों ही के कर्त्ता, सृष्टि स्थिति और प्रलय के अधीश्वर, शिवरूप भगवान् को जो भक्त जानते हैं उनको विदेहमुक्ति लाभ होती है * । तटस्थज्ञान से स्वरूपज्ञान में पहुँचते समय भावही प्रधान अवलम्बन है । तटस्थ ज्ञान वह है कि जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इस त्रिपुटी के रहते हुए आत्मा के साथ साक्षात्कार हो और स्वरूपज्ञान वह है कि जहाँ त्रिपुटी के विलय होने से अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार हो । इन दोनों ज्ञानकी सन्धि में भाव की आवश्यकता है, क्योंकि तटस्थ ज्ञानभूमि से स्वरूप ज्ञानभूमि में पहुँचते समय कुछ स्थूल अवलम्बन न रहने से साधक को भाव का आश्रय लेना पड़ता है । उस समय मैं सत्‌रूप हूँ, मैं चित्‌रूप हूँ, मैं आनन्दरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार उच्चभावों के अवलम्बन से साधक परमात्मा का साक्षात्कार कर कृतकृत्य होसक्ता है इसीलिये स्मृतियों में भाव की ऐसी महिमा वर्णित की गई है । यथा—भाव के द्वारा सकल वस्तुओं का लाभ होता है, भाव के

* भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

द्वारा भगवान् का साक्षात्कार होता है, भाव के द्वारा परम ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये भाव का अवलम्बन करना चाहिये। सिद्धिप्राप्ति के लिये भाव से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है, भाव के द्वारा ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है, भाव का आश्रय करने से भगवान् की कृपा होती है जिससे परम सुख लाभ होता है। समस्त जगत् भावही के आधीन है-इसलिये भाव के विना कदापि सिद्धि नहीं होती है *। यद्यपि आन्तरिक भावों के प्रकाश करने में बहिरङ्गों की चेष्टा सहायक होती है तथापि शब्दही इसमें प्रधान सहायक है। अधिकन्तु शब्द के द्वाराही बहिर्जगत् में आन्तरिक भावों की स्थिति होती है। जैसा कि क्षणप्रभा (विद्युत्) एक क्षण के लिये प्रभादान के द्वारा जगत् को आलोकित करके दूसरे क्षण में ही मेघगर्भ में विलीन होकर जगत् को

* भावेन लभ्यते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद्भावावलम्बनम्॥
भावात्परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सिद्धिमिच्छताम्।
भावो हि परमं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमनुत्तमम्॥
भावात्परतरं नास्ति येनानुग्रहवान्भवेत्।
भावादनुग्रहप्राप्तिरनुग्रहान्महासुखी॥
भावेन लभ्यते सर्वं भावाधीनमिदं जगत्।
भावं विना महाकाल! न सिद्धिर्जायते क्वचित्॥
भावात्परतरं नास्ति भावाधीनमिदं जगत्।
भावेन लभ्यते योगस्तस्माद्भावं समाश्रयेत्॥

द्विगुण अन्धकार से परिपूर्ण कर देती है; ऐसेही अन्तर्जगत् का भाव अन्तर्जगत् में प्रकाशित होने परभी यदि बहिर्जगत् में शब्द के द्वारा प्रतिष्ठित न हो तो भाव के अप्रकाश के कारण बहिर्जगत् भावशून्यतारूप अन्धकार से भर जाता है। कारणब्रह्म के साथ भाव का सम्बन्ध है और भाव शब्दद्वारा प्रकाशित होता है। वही भाव और शब्द रूपान्तर से रूप और नाम में परिणत होते हैं। जगदुत्पत्तिकारी भाव जगत् में रूप और शब्द के द्वारा प्रकाशित होता है। नाम शब्द का परिणाममात्र है इसलिये दृश्यमान जगत् अर्थात् कार्यब्रह्म नामरूपात्मक है क्योंकि कारण का गुण ही कार्यरूप से परिणत होता है। कारण में जब भाव का सम्बन्ध है और कार्य कारण ही का विवर्तमात्र है और कारण से सम्बन्धयुक्त भाव नाम और रूप के द्वारा कार्य में प्रकाशित होता है तो कार्यब्रह्म नामरूपात्मक है यह विज्ञान सुसिद्ध हुआ। इसलिये ही श्रुति में लिखा है कि जब कारणब्रह्म माया के आश्रय से बहुरूप होकर कार्य ब्रह्मरूप से विवर्तित होते हैं तो नाम और रूपही के अवलम्बन से होते हैं ॥ १४ ॥ *

---

* रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्तो ह्यस्य हरयः शतादश॥
" नामरूपे व्याकरवाणि "
" सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता"।

भाव के प्रसङ्ग में ज्ञान और अज्ञानभूमि का निर्देश किया जाता है--

भावमय दृश्य चतुर्दश प्रकार के होने से सप्त ज्ञानभूमि और सप्त अज्ञानभूमि है॥ १५॥

भावमय दृश्य चतुर्दश प्रकार से विभक्त है। श्रुति में भी लिखा है कि समस्त दृश्य वस्तुओं के सात सात विभाग हैं। * इसलिये सात ज्ञानभूमि और सात अज्ञानभूमि हैं। परमात्मा का आधिभौतिक स्वरूप कार्यब्रह्म विराट् है उसकी भी वेद में चतुर्दश भुवनरूप से व्याख्या की गई है। सत्त्व और तम, पुण्य और पाप, प्रकाश और अन्धकार के अनुसार विराट् पुरुष की नाभि के ऊपर सप्तलोक और नीचे सप्तलोक इस तरह से चतुर्दश लोक विद्यमान हैं। और स्मृति में भी लिखा है कि उस सहस्रऊरु सहस्रपाद सहस्रचक्षु सहस्रमुख और सहस्रशीर्ष पुरुष के शरीर में समस्त लोक की कल्पना होती है। उनकी कटि (कमर) के ऊपर सात लोक और कटि के नीचे सात लोक रहते हैं। उनके पददेश के ऊपर भूलोक, नाभि के ऊपर भुवर्लोक, हृदय के ऊपर स्वर्गलोक, वक्ष के ऊपर जनलोक, गले के

भावमयदृश्यस्य चतुर्दशविधतया सप्त ज्ञानभूमयः सप्ताऽज्ञानभूमयः॥ १५॥

* ॐ ये ते पाशाः सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति।

ऊपर तपलोक, स्तनद्वय के ऊपर महर्लोक और मस्तक के ऊपर सत्यलोक अर्थात् ब्रह्मलोक, इस तरह से सप्त ऊर्द्ध्वलोक विद्यमान हैं। और कटि देश में अतल, ऊरु में वितल, जानुदेश में सुतल, जङ्घा में तलातल, गुल्फ में महातल, पाद के अग्रभाग में रसातल और पादतलमें पाताल इस तरह से सप्त अधोलोक विद्यमान हैं। *कार्य और कारणके सम्बन्ध के अनुसार व्यष्टि सृष्टि में भी इसलिये सब पदार्थ सात प्रकार के होते हैं। यथा-सप्त व्याहृति, सप्त दर्शन, सप्त धातु इत्यादि। और इसके प्रमाण रूप से श्रुति तथा स्मृति में भी वर्णन है। यथा-सप्त प्राण की महिमा से ही सप्त होम में सप्त अग्नि शिखा का विस्तार होता है। ये सात ऊर्ध्वलोक हैं जिनके भी-

---

* स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा जनलोको महात्मनः॥
ग्रीवायास्तपलोकोऽस्य महर्लोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्याञ्चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम्॥
महातलन्तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥

तर समष्टि और व्यष्टिरूप से विभक्त होकरके प्राण विचरण करता है। ग्राम्य पशु सात हैं और वन्य पशु भी सात हैं, सात ही छन्द के द्वारा देवताओं के पास यज्ञभाग जाता है, ऋषि सात हैं, पूजा के उपकरण सात हैं और वीणा भी सप्ततन्त्री से भूषित होकर कर्णकुहर को पवित्र करती है। * इन सब विचारों के अनुसार ज्ञानभूमि और अज्ञानभूमि के भी सात सात करके चतुर्दश विभाग किये गये हैं ॥ १५ ॥

इसीतरह से रसका विभाग कियाजाता है—

रसज्ञान भी चतुर्दश प्रकार का है उसमें सात मुख्य और सात गौण हैं ॥ १६ ॥

रस के ज्ञान में भी चौदह प्रकार के भेद हैं, उनमें सात रस प्रधान और सात अप्रधान हैं। गौण सात रस निम्न भूमि के हैं इसलिये वे साक्षात् उन्नतिकर नहीं हैं परन्तु मुख्य सात रस साक्षात् उन्नति के देनेवाले हैं जिनका विवरण आगे किया जाता है ॥ १६ ॥

---

* सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥
सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः
सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति ।
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि
सप्त तन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥
रसज्ञानमपि चतुर्दशधा तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः ॥१६॥

हास्य आदि रस गौण हैं और, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति और तन्मयासक्ति ये सात मुख्य रस हैं ॥ १७ ॥

हास्य आदि सात प्रकार की आसक्तियाँ गौण हैं और दास्य आदि सात प्रकार की आसक्तियाँ मुख्य हैं। रस के भावों को जाननेवाले पूर्वाचार्य्यों की यह सम्मति है कि यह सृष्टि शृङ्गार प्रचुरा है अर्थात्—प्रकृति और पुरुष के शृङ्गार के द्वारा ही समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है। श्रुति में लिखा है कि ब्रह्माण्ड की प्रलयदशा में सत् असत् आकाश आदि कोई भी नहीं थे, केवल सर्वत्र व्याप्त गभीर अन्धकार था, मृत्यु नहीं थी इसलिये अमृत भी नहीं था, दिन नहीं था इसलिये रात्रि भी नहीं थी, केवल एकमात्र परमात्माही विद्यमान थे। तदनन्तर प्रलय के गर्भ में लयप्राप्त जीवों के समष्टि संस्कार में जब अङ्कुर उत्पन्न होने का समय आया तब परमात्मा ने तप करके मैथुन की इच्छा की। उनका यह तप मनुष्यों के ऐसा साधारण तप नहीं है, परन्तु पूर्व कल्प के अनुसार सृष्टि के विषय में ज्ञानमात्र

हास्यादयो गौणाः दास्यासक्ति–सख्यासक्ति–वात्सल्यासक्ति–कान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति–गुणकीर्तनासक्ति–तन्मयासक्तयश्च मुख्याः ॥ १७ ॥

है। इस ज्ञान के द्वारा प्रेरित होकर जब उन्होंने एक से बहुत होने की इच्छा की तब उन्हींके शरीर से प्रकृतिरूपिणी जाया की उत्पत्ति हुई, जिनके साथ मिथुनीभाव का फलरूप ही शृङ्गारप्रचुरा यह सृष्टि है *। स्मृति में भी लिखा है कि परमात्मा अपनी देह को दो भागों में विभक्त करके आधे में पुरुष और आधे में नारी बने और उसी नारी के गर्भ में विराट् की उत्पत्ति की †। और ऐसा भी किसी किसी स्मृति में लिखा है कि भगवान् के चित्त में जब सृष्टि रचने की इच्छा हुई तब योग के द्वारा उन्होंने

---

* "तमसासीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलम् ।"
नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमपरो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्मादन्यान्न परः किञ्चनास ॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुरसतो निरविन्दन् हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा ॥
"आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय" "स तपस्तप्त्वा मिथुनमैच्छत्"
तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते ॥
† द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर लिया। उन दं
भागों में दक्षिण भाग पुरुषरूप और वाम भाग प्रकृतिरू
होगया। तदनन्तर श्रीभगवान् ने कोमलपद्म की ऐसं
अत्यन्त सुन्दरी उस स्त्री को कामातुरा देखकर उसके सा
शृङ्गारसम्बन्धी बहुत लीला कीं और शुभकाल में जग
त्पिता परमेश्वर ने उसके गर्भ में वीर्याधान कर दिया। इ
रतिक्रीड़ा के अन्त में प्रकृति के अङ्ग से श्रमजल निक
लने लगा और अति आक्रमण के क्लेश से दीर्घश्वास
बहनेलगा। प्रकृति के अङ्ग से निकले हुए श्रमजल से स
मस्त विश्वगोलक आवृत हुआ और निःश्वास के द्वार
समस्त जीवों के प्राणरूप सर्व्वाधार वायु की उत्पत्ति हुई
रतिश्रम रूप कारण से उत्पन्न पसीने के बिन्दुओं की अधि
दैव शक्तिरूप से वरुण देव उत्पन्नहुए एवं वरुण देव वे
वाम अङ्ग से उनकी स्त्री वरुणानी की उत्पत्ति हुई। तद
नन्तर श्रीभगवान् की शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति माताने ब्रह्म
तेज से तेजस्विनी होकर शतमन्वन्तर काल पर्य्यन्त गर्भ
धारण करके पश्चात् सुवर्ण सदृश उज्ज्वल एक अण्ड को
प्रसव किया *। यही समस्त जीवों का आधार स्वरूप
ब्रह्माण्ड कहा जाता है। भक्ति के चतुर्दश रस इसी सृष्टि के

*योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता॥
तां ददर्श महाकामी कामाधारां सनातनः।
अतीव कमनीयाञ्च चारुपङ्कजसन्निभाम्॥

आदिभूत शृङ्गाररस के ही परिणाममात्र हैं। केवल निमित्त के भेद सेही समस्त जगत् के मूल कारण उसी प्रकृति और पुरुष के संयोगरूप शृङ्गाररस ने ही बहु भेद को प्राप्त होकर समस्त जीवों के हृदयराज्य में अधिकार विस्तार कर रक्खा है । इन चतुर्दशरसों में से सात रस मलिन शृङ्गार के और सात रस शुद्ध शृङ्गार के हैं। हास्य,

दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले ।
रासोल्लासेषु रसिको रासक्रीडां चकार ह ॥
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्तिमानिव ।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम् ॥
ततः स च परिश्रान्तस्तस्या योनौ जगत्पिता ।
चकार वीर्याधानञ्च नित्यानन्दे शुभक्षणे ॥
गात्रतो योषितस्तस्य सुरतान्ते च सुव्रत ! ।
निःससार श्रमजलं श्रान्तायास्तेजसा हरेः ॥
महाक्रमणक्लिष्टाया निःश्वासश्च बभूव ह ।
तदा वव्रे श्रमजलं तत्सर्वं विश्वगोलकम् ॥
स च निःश्वासवायुश्च सर्वाधारो बभूव ह ।
निःश्वासवायुः सर्वेषां जीवानाञ्च भवेषु च ॥
घर्मतोयाधिदेवश्च बभूव वरुणो महान् ।
तद्वामाङ्गाच्च तत्पत्नी वरुणानी बभूव सा ॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह ।
शतमन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा ॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी ।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम् ॥

वीर, करुणा, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र ये सात रस गौण अर्थात् मलिन शृङ्गार के हैं । इन सब रसों के विषय में यद्यपि कहीं कहीं भक्तिरस के आचार्यों की ऐसी सम्मति मिलती है कि सब रस आनन्द के परिणामरूप होने से इनके द्वारा भी उन्नति होसक्ती है, तथापि इन सब रसों के आश्रयों के मलिन होने से वे सब गौण ही हैं हास्य आदि गौण रसों के द्वारा उन्नति के विषय में स्मृति में कहा है कि जैसे द्वेष प्रदर्शन करने पर भी भगवान् में द्वेष होनेके कारण शिशुपालादिकों को सिद्धि प्राप्त हुई थी; इस तरहसे काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहृद्य इनमें से किसी एक भाव के आश्रय से भगवान् में तन्मयता प्राप्त हो तो उसीसेही साधक की उन्नति होती है। यथा भीष्मपितामह को वीर रस के द्वारा, दशरथको करुणा रस के द्वारा, बलि, अर्जुन और यशोदा को विराट्रूप के देखने से अद्भुत रस के द्वारा, गोपाल बालकों को हास्य रस के द्वारा, कंस को भयानक रसके द्वारा, अघासुर को बीभत्स रस के द्वारा और इन्द्र को रौद्र रस के द्वारा सिद्धि प्राप्त हुई थी * । परन्तु सात मुख्य रसों का विषय

---

*उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
भैष्मीराधादिरूपेषु शृङ्गारः परमोज्ज्वलः ।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान् ॥

ऐसा नहीं है क्योंकि दास्यादि मुख्य आसक्तियों में मलिनता का नाममात्र भी न रहने से इन सबों के द्वारा साक्षात्रूप से भक्त का कल्याण हुआ करता है। राग के उदय होने से भक्त का चित्त निशि दिन उसी आनन्द-सागर में निमग्न रहता है और प्रकृति के वैचित्र्य होने से कल्पतरु श्रीभगवान् के प्रति कोई भक्त दासभाव का आश्रय करके, कोई भक्त सखाभाव का आश्रय करके, कोई भक्त वात्सल्यभाव का आश्रय करके, कोई भक्त कान्ताभाव का आश्रय करके, कोई भक्त आत्मनिवेदन भाव का आश्रय करके, कोई भक्त गुण-कीर्त्तन भाव का आश्रय करके और कोई भक्त तन्मयतासक्ति का आश्रय करके भगवत् राज्य में अग्रसर होता हुआ अन्त में उसी परमानन्द पद को प्राप्त करता है। भगवान् भक्त के आधीन हैं, इसलिये उनमें आसक्त भक्तों के प्रति असीम कृपा वितरण करके

बल्यर्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत् ॥
गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहात्पार्था भक्त्या मुनीश्वराः ॥
शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे-
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचेलचौर्ये प्रहासी।
वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान्विचित्री निजमहसि शमी दामबन्धे स जीयात् ॥

उनकी सदैव रक्षा करते हैं और अन्त में परमानन्दरूप मुक्तिपद को प्रदान करते हैं। क्योंकि उन्होंने निज मुख से कहा है कि मैं कदापि स्वतन्त्र नहीं हूं भक्त के ही आधीन हूं क्योंकि मेरा हृदय अपना नहीं है परन्तु साधु भक्तों का ही है। जिन भक्तों ने मेरे ऊपर अनन्य शरण होकर स्त्री पुत्र घर द्वार और समस्त ऐश्वर्य को छोड़ दिया है उनको मैं कैसे छोड़ सक्ता हूं। सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न साधुगण मुझ में मनः प्राण समर्पण करके अनन्य भक्तिके द्वारा सती स्त्री जैसे अपने पति को वशीभूत करती है इसी तरह से मुझे भी वशीभूत करते हैं। साधु लोग मेरे हृदय हैं, मैं साधुओं का हृदय हूं, वे मेरे विना त्रिभुवन में और किसीको भी नहीं जानते हैं, मैं भी उनके सिवाय त्रिभुवन में और किसीको नहीं जानता हूं *। भगवान् के अति-

---

* अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् ! येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

प्रिय इन सब भक्तों की दास्य सख्य आदि आसक्तियों के विषय में भक्तिशास्त्र में अनेक प्रमाण मिलते हैं। पवन-नन्दन हनुमान् की भगवान् रामचन्द्र के ऊपर जो अपूर्व दास्यासक्ति थी सो प्रसिद्ध ही है। इस दास्यासक्ति के उदय होने से सेवकभाव से भक्त अपने को भगवान् की और उनके भक्तों की सेवा में समर्पण करता है क्योंकि श्री भगवान् ने कहा है कि मेरे भक्तों का जो भक्त है वह मेरा प्रियतम भक्त है, जगत् में कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरी भजना करता है मैं उसीका ही हूं *। सख्यभाव के दृष्टान्त में अर्जुन का नाम लिया जा सक्ता है जिन्होंने सख्यता के समानभाव में आकर श्रीकृष्ण भगवान् से कुछ भेदबुद्धि नहीं रक्खी थी। परन्तु जब विश्वरूप के दर्शन से श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप उनको मालूम हुआ तब उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि हे विश्वरूप! मैंने आपके स्वरूप को न जानकर मित्र समझ करके जो उपहास और सामान्य सम्बोधन आदि रूप अपराधों को किया सो आप क्षमा कीजिये *। वात्स-ल्यासक्तिके दृष्टान्त में यशोदा और नन्द गोपादिकों को

---

* मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमाः स्मृताः।
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

*सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति

आदर्शरूप में लिया जासक्ता है जिन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् का विश्वरूप धारण और कालीय नाग दमन आदि अलौकिक कार्यसमूह को देखनेपर भी उनके साथ पुत्रभाव से ही प्रीति की थी । इसी वात्सल्य भावसेही भावित होकर किसी भक्त ने कहा है कि हे वत्स ! नूतन मेघसदृश कोमलाङ्ग ! तुम मेरे पास आओ, मैं तुम्हें हृदय में रखकर पुत्र स्नेह की चरितार्थता करूं अथवा तुम्हारे चरणकमलों में प्रणाम करूं * । कान्तासक्ति का अपूर्व दृष्टान्त व्रजगोपिकाओं में मिलता है जिन्हों ने समस्त लोक-लज्जा कुल-मर्यादा और गार्हस्थ्य-धर्मको परित्याग करके श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् जानकर वृन्दावनविलासी मोहनमुरलीधारी हृदयराज आनन्दकन्द सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण भगवान् के पवित्र प्रेमसिन्धुके गंभीर जल में अपनी अपनी जीवनतरणियोंको निर्भयहृदय होकर बहा दियाथा, जिनके लिये

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

*एह्येहि वत्स ! नवनीरदकोमलाङ्ग !
चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवा निशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयन्ते ॥

भगवान् को भी कहना पड़ा कि हे व्रजगोपिनीगण! आप लोगों का मेरे ऊपर प्रेम परम पवित्र है जिसका मैं इस जन्म में बदला नहीं देसक्ताहूं क्योंकि आप लोगोंने कठिन संसार-पाश छिन्न करके मेरेमें प्राण मन समर्पण किया है इसलिये आपलोगों का यह साधुकार्यही मेरे प्रति प्रेमका प्रतिदान स्वरूप हो *। और जिस समय उद्धव को श्रीकृष्णजी ने वृन्दावन में भेजा था उस समय भी कहा कि मेरी प्रियतम गोपियों का प्राण मन मेरे ऊपरही समर्पित है, क्योंकि उन्होंने मेरेही लिये समस्त लौकिक धर्म्मोंको त्याग कियाहै, अब मेरे विरह में अत्यन्त विह्वलचित्त होकर वे सब बहुत ही कष्ट के साथ जीवन का भार उठा रही होंगी इसलिये उन लोगों को वृन्दावन लौटने का मेरा शुभ संवाद देकर उनके संतप्त प्राण को शीतल करो *। आत्मनिवेदनासक्ति के विषय में देवर्षि नारदादिकों का दृष्टान्त उत्तमहै जिन्होंने भगवान् श्रीहरि में देह मन और प्राण समस्त समर्पण करके इस आसक्ति का अपूर्व परिचय दिया है।

---

* न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

* ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्।

आत्मनिवेदन भाव के उदय होने से भक्त के चित्त से अहंभाव का नाश होजाता है और उनका जीवन और समस्त चेष्टाएँ श्रीभगवान् के प्रीत्यर्थही होती हैं। जैसा कि स्मृति में कहा है कि वाक्य यथार्थ में वेही हैं जिनसे भगवान् का गुणगान हो, हाथ यथार्थ में वेही हैं जिनसे भगवत्कार्य किया जाय, मन यथार्थ में वही है जिससे सर्वव्यापक परमात्मा का स्मरण किया जाय, कर्ण यथार्थ में वेही हैं जिनसे भगवान् की सत्कथा सुनी जाय, शिर यथार्थ में वही है जिससे भगवान् की चरण-वन्दना की जाय, चक्षु यथार्थ में वेही हैं जिनसे भगवान् का दर्शन हुआ करे और शरीर का अवयव यथार्थ में वही है जिससे भगवान् और भगवद्भक्तों की सेवा की जाय *। ये सब आत्मनिवेदनासक्ति के भाव हैं। गुण-कीर्तनासक्ति के दृष्टान्त में महर्षि वेदव्यासजी का नाम लिया जा सक्ता है जिन्होंने अखिलशास्त्रों की रचना करने पर भी चित्त में जब शान्ति स्थापन न कर सके तब भगवान् के गुणगान के द्वाराही चित्त में परम शान्ति लाभ की। स्मृति में भी

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ॥
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ॥
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।

* सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्म्मकरौ मनश्च ।

कहा है कि भगवान् की मधुरगुणकथा जिसका मुक्त
लोग उच्चैःस्वर से गान किया करते हैं और जो कि भव-
रोग की एकमात्र औषधि तथा श्रवण और मन में अमृत
सिञ्चनकारिणी है ऐसी मधुरगुणकथा का जो लोग गान
नहीं करते हैं वे आत्मघाती हैं *। भगवान् के भक्त
साधुजनों के मुख से अमृतधारा की नाईं उनकी मधुर-
गुणकथा जब बहने लगती है तब भक्त लोग कर्णेन्द्रिय
के द्वारा उसको पान करके क्षुधा, तृषा, भय, शोक, मोह
आदि समस्त दुःखों से छूटकर मुक्तिलाभ करते हैं †। रागा-
त्मिकाभक्ति की अन्तिम दशा तन्मयासक्ति है जिसके

स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमे-
त्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥
वाणी गुणाऽनुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिश्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।

मिलने पर भक्त अपने को भगवान् का रूप समझ करके उनके प्रति अपूर्व प्रीतिप्रवाह में निशिदिन निमग्न रहते हैं । इसी तन्मयासक्ति के अपूर्व वर्णन-प्रसङ्ग में स्मृति में लिखा है कि इस भाव के उदय होने से भक्त तन्मय हो कर कभी भगवान् को प्रणाम करते हैं और कभी भगवद्-रूप होकर अपनेही को प्रणाम करते हैं * श्रीहरि और हर में जो पारस्परिक अपूर्व आसक्ति है वह तन्मयासक्ति है । जैसा कि श्रीहरिने निज़ मुख से लक्ष्मीजी से कहा है कि मैं दिवानिशि आशुतोष के ध्यान में तन्मय रहता हूँ और वे भी मेरे ध्यान में तन्मय रहते हैं, शंकर मेरे प्राण हैं और मैं भी शंकर का प्राण हूँ, परस्पर तन्मयभावापन्न हम दोनों के मध्य में कुछ भी भेद नहीं है † । तन्मयासक्ति

ता ये पिवन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णै-
स्तान्नस्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥
* नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥
मह्यन्तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवाऽधिदेवाय पराय परमात्मने ॥
† शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम् ।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि ॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः ।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम् ॥
शिवस्याऽहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम ।

के इस अपूर्व भाव का विकाश श्रीकृष्णजी के साथ एक-प्राण गोपियों में हुआ था कि जब श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों को अभिमानिनी जानकर उनके अभिमान को दमन करने के लिये रासलीला के बीच में से ही उनको छोड़कर अन्तर्धान होगये, जिसके विषय में स्मृति में वर्णन है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के विरह में अत्यन्त व्याकुल होकर उन्हीं की चिन्ता करते करते तन्मय होगई और उसी तन्मय दशा में वे सब श्रीकृष्ण की यावतीय बाललीलाओं को परस्पर करने लगीं। कोई गोपी पूतना बनी व किसी गोपी ने कृष्ण बनकर स्तन्यपान के व्याज (छल) से उसका प्राणवायु पी लिया। कोई गोपाल बनकर शकटरूपी प्रच्छन्न शकटासुरभाव को धारण करती हुई अन्य एक गोपी को पदप्रहार करने लगी। कोई गोपी अन्य गोपी के स्कन्ध पर चढ़कर कालीयदमन की लीला दिखाने लगी और किसी ने अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) को अंगुली से उठाकर गोवर्धन धारणरूप लीला की *। यही सब तन्मयासक्ति का भाव है। इस तरह से हास्यादि गौण आसक्तियों और दास्य आदि मुख्य आसक्तियों

उभयोरन्तरन्नाऽस्ति मिथः संसक्तचेतसोः ॥

* इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥
कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकायित्वा रुदन्त्यन्या पदाहन् शकटायतीम्॥
दैत्यायित्वा जहाराऽन्यामेका कृष्णाऽर्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काऽप्यङ्घ्री कर्षती घोषनिस्वनैः॥

के द्वारा रागात्मिका भक्ति के साधक भगवद्राज्य में अग्रसर होते हैं ॥ १७ ॥

रसभाव में निमग्न होने से साधक की क्या दशा होतीहै–

भावमें निमग्न होनेसे साधक रसरूप होजाते हैं ॥१८॥

भगवद्भाव के समुद्र में निमग्न होकर भक्त भगवद्रूप होजाते हैं। समस्त रस आनन्दमय हैं इसलिये आनन्दरूप भगवान् के चरणकमलों में चित्त को एकाग्र करके ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी के अवलम्बन से भगवान् के चरणों का ध्यान करते हुए जैसे जैसे उस परमानन्द का लाभ करते जाते हैं वैसेही वैसे त्रिपुटी का नाश होकर भगवान् के साथ भेदबुद्धि नष्ट होती जाती है और अन्त में सविकल्प समाधि के उदय होने से ध्याता साधक ध्येय आनन्दमय भगवान् के रूप को प्राप्त होजाते हैं। जैसा कि श्रुति में लिखा है कि भगवच्चरणों में लवलीन भगवद्रूपता को प्राप्त होते हैं † और स्मृति में भी लिखा है कि जैसे तैलपायी कीट भ्रमर कीट की चिन्ता करते करते

मा भैष्ट वर्षवाताभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥
आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहाऽपरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ इत्यादि ।
रसरूप एवाऽयं भवति भावनिमज्जनात् ॥ १८ ॥

† "तत्र वयं स्मः" "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" ।

भ्रमर कीट बनजाता है वैसेही भगवान् का ध्यान करते रते भक्त भगवद्रूप होजाते हैं * ॥ १८ ॥

दास्यादि मुख्य भावों का विशेष निर्णय करते हैं—

मुख्य रसों के द्वारा पराभक्ति लाभ होती है परन्तु न्नति सकल प्रकार के रसों से ही होती है ॥ १९ ॥

हास्य आदि गौण रस अथवा दास्य आदि मुख्य रस दोनों प्रकार के रसों के द्वाराही साधक उन्नति लाभ करसकते हैं। भगवान् का परमपद आनन्दरूप है और सकल प्रकार के रसों में ही स्वाभाविक रूप से आनन्द की सत्ता विद्यमान है इसलिये मुख्य और गौण इन दोनों प्रकार के रसों के द्वारा ही साधक को उन्नति अवश्य लाभ होती है; परन्तु इन दोनों में भेद इतना ही है कि गौण रसके साथ बहिर्विषय का सम्बन्ध रहने से गौण रस सर्वथा निर्दोष नहीं होते हैं इसलिये उनके द्वारा उन्नति होने पर भी पराभक्ति का लाभ नहीं होता। परन्तु दास्यादि मुख्य रसों में बहि-

---

* सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ॥
क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन् यथाऽलिं ह्यलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥

परा मुख्यरससान्निकर्षादुन्नतता तु सर्व्वरसाश्रया ॥ १९ ॥

विषयों का लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहने से उनके द्वारा भाग्यवान् भक्त को साक्षात् रूपसे पराभक्ति का लाभ हुआ करता है । दृष्टान्तरूप से समझ सके हैं कि यदि कोई राजा अपने राज्य के ही उद्धार के लिये वीरता प्रकट करे तो वह भाव वीररस का होने पर भी उसमें स्वार्थ का सम्बन्ध होने के कारण सर्वथा निर्मल न होगा । परन्तु यदि उसी वीरभाव का प्रयोग निष्काम होकर कियाजाय तो उस में मलिनता का गन्धमात्र नहीं रहेगा और वह उसकी आध्यात्मिक उन्नति का कारण होगा । इसलिये गौणरस के द्वारा यदि कदाचित् पराभक्ति के लाभ के विषय में भी उपकार हो तो वह उपकार परोक्षरूप से होगा; परन्तु मुख्यरसों के सर्वथा निर्मल और एकमात्र भगवद्भाव-युक्त होने के कारण उनके द्वारा भक्त को साक्षात् रूपसे पराभक्ति की प्राप्ति हुआ करती है ॥ १९ ॥

रसभाव के द्वारा पराभक्ति का लाभ कैसे होता है—

अद्वैत भावप्रद तन्मयासक्तिरूप भावसागरमें उन्मज्जन निमज्जनके द्वारा पराभक्तिका उदय होताहै ॥२०॥

भक्त जब भगवान् में तन्मय होकर भावके समुद्र में डूबते उठते रहते हैं तभी अद्वैतभावप्रद उस भाव के द्वारा पराभक्ति का उदय होता है । शुद्धरसों की धारणा दृढ़

---

*परालाभो ब्रह्मसद्भाविकात्तन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात् ॥२०॥

होजाने से साधक क्रमशः श्रेष्ठ समाधि भूमि को प्राप्त करते हैं। तदनन्तर उसी भावके महासमुद्र में अवगाहन करते करते भावुक भक्त शीघ्र सविकल्प समाधिकी वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता नामक चारों दशाओं को अतिक्रम करके निर्विकल्प समाधिको प्राप्त किया करते हैं। यहां ज्ञान और भक्ति दोनों की भूमि एक होजाती है और पराभक्ति-प्राप्त कृतकृत्य योगी समस्त जगत् को ब्रह्ममय देखते हैं। यही अद्वैतभावप्रदानकारिणी परमानन्ददायिनी पराभक्ति है। इसी परमानन्द के विषय में स्मृतियों में कहा है कि भगवान् के अपूर्व भाव में तन्मय होकर जब भक्त समस्त विश्व में अपने अतिरिक्त और किसी वस्तु को नहीं देखते हैं तभी उनको पराभक्ति की प्राप्ति होती है। उस समय मैं और मेरा, यह द्वैतभाव नष्टहोजाता है और सर्वत्र आनन्द-मय परमात्मा का साक्षात्कार होने से भक्त आनन्दरूप हो जाते हैं। उस समय उनका समस्त प्राकृतिक बन्धन और जीवभाव विनष्ट होजाता है और वे ब्रह्मरूप होकर सच्चि-दानन्द के आनन्दसागर में विलीन होजाते हैं। उस समय उनके लिये प्रिय अप्रिय, हेय उपादेय, दृश्य द्रष्टा, कुछ भी भेदभाव नहीं रहता है। वे शुद्ध आनन्दरूप होकर अविद्या के आवरण से विमुक्त होजाते हैं। यही भक्ति की पराकाष्ठा, वैराग्य की पराकाष्ठा और ज्ञान की पराकाष्ठा है *॥ २०॥

*तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावाऽनुकृताऽऽशयाऽऽकृतिः। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

अधोक्षजालम्बमिहाऽशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाऽहमिति प्ररूढम् ॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥
यदाऽस्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥
स तदैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
पश्यति योगयुक्ताऽऽत्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

रससमूह के प्रवाह की सीमा कहां है—

सकल रसों की परिसमाप्ति एकही स्थानपर है॥२१॥

रससमूह के प्रवाह में बाधा न हो तो सभी रस उसी परमपद में जाकर परिसमाप्त होते हैं। जैसा कि देश, काल और पात्र के अनुकूल होने पर एक सामान्य अग्निकण भी समस्त संसार को दग्ध करने में समर्थ होता है, ऐसेही सामान्य से सामान्य भी कोई रस हो, परन्तु उसके विकाश में कोई बाधा न हो तो वह रस भी समुन्नत होता हुआ भक्त के चित्त में भगवान् के प्रति अनुराग को उत्पन्न करके उसको भक्ति की उन्नत भूमि में पहुँचाकर अन्त में उसी परमानन्दपद को प्राप्त करा सक्ता है। जैसे कि तरलतरङ्गिणी जाह्नवी भिन्न भिन्न जनपदों में प्रवाहित होती हुई

पराऽनुरक्त्या मामेव चिन्तयेद्यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाऽभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
मयि प्रेमाकुलवानि रोमाञ्चिततनुः सदा।
प्रेमाश्रुजलपूर्णाक्षा कण्ठगद्गदनिस्वनः॥
उच्चैर्गायंश्च नामानि ममैव खलु नृत्यति।
अहंकारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः॥
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता परभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां देवाऽतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर! तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥
सर्वेषामेकत्रैव पर्यवसानम्॥ २१॥

अपनी अमृतमयी धारा से उन सब देशों को पवित्र करती हुई महासमुद्र में जा मिलती है, इसी तरह से भगवद्भाव-मूलक समस्त रसों के प्रवाह भक्त-हृदय के भिन्न भिन्न देशों में प्रवाहित होते हुए अपने अमृतमय भावसमूह के द्वारा भक्त-हृदय को पवित्र और उन्नत करके अन्त में ब्रह्मानन्दसागर में जा मिलते हैं ॥ २१ ॥

वह रसप्रवाह भगवान् के प्रति होने से क्या फल है—

भगवान् की भक्ति निःश्रेयसप्रदानकारिणी है॥२२॥

परमात्माके प्रति भक्ति करने से भक्तको मुक्तिपद की प्राप्ति होती है। कर्म, उपासना, ज्ञान, तप और दान आदि धर्म्माङ्गसमूह के अनुष्ठान के द्वारा साधक को अभ्युदय और मुक्ति लाभ होती है; परन्तु भगवद्भक्ति के द्वारा भक्त को परमानन्दमय कैवल्य पद की प्राप्ति होती है, यही भगवद्भक्ति की श्रेष्ठतम महिमा है। जैसा कि स्मृति में कहा है कि जो लोग भगवान् को सर्वव्यापी जानकर अन्य देवताओं की उपासना को छोड़कर एकमात्र-भगवान् में ही अनन्य भक्ति और आसक्ति युक्त होतेहैं उनको भगवान् मृत्युमय संसारसे उद्धार करते हैं। भगवान् के चरणकमलों का जो भक्त आश्रय करते हैं उनको कोई विपत्ति नहीं रहती है और अपार भवसमुद्र को गोष्पद की नाईं वे अतिक्रम करते हैं। अच्युत के चरणारविन्द में एकान्त अनुरक्त भक्त संसार से विरक्त होकर भगवान् को लाभकर परम शान्ति

तद्भक्तिर्निःश्रेयसकरी ॥ २२ ॥

को प्राप्त करते हैं। श्रीभगवान् सच्चिदानन्दरूप परमात्मा में जिस भक्त का अन्तःकरण एकाग्र होता है उसके चित्त में सत्त्वगुण के उदय होने से रजोगुण और तमोगुण का मल नष्ट होजाताहै, तदनन्तर निर्विकल्प समाधि के द्वारा सत्त्वगुण का भी लय होने से उसको परम निर्वाणपद की प्राप्ति होती है *। इसी प्रकार से ही भगवद्भक्ति के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

भगवत्शक्तियों के प्रति रसप्रवाह का फल क्या है—

ऋषि देव और पितृगण के प्रति भक्ति अभ्युदय-कारिणी है ॥ २३ ॥

भगवान् के साक्षात् शक्तिस्वरूप नित्य ऋषिगण देवतागण और पितृगण के प्रति भक्ति के द्वारा साधक को उन्नति लाभ हुआ करता है। उन्नति दो प्रकार की है, यथा—इहलौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति। संसार में धन जन सुख सम्पत्ति लाभ को इहलौकिक उन्नति कहते हैं

* विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतो मुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥
समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न येषाम् ॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥
ऋषिदेवपितॄणां भक्तिरभ्युदयप्रदा ॥ २३ ॥

और स्वर्गादि उन्नत लोकों में जाकर दिव्य सुख लाभ करने को पारलौकिक उन्नति कहते हैं । ये दोनों प्रकार की उन्नतियाँ ऋषि देवता और पितृगण के प्रति भक्ति के द्वारा होती हैं । जैसा कि श्रीगीताजी में लिखा है कि देवयज्ञकारिगण देवलोक में और पितृयज्ञकारिगण पितृ-लोक में जाते हैं । ऐसे साधकगण प्रायः सकाम हुआ करते हैं अर्थात् सकाम कर्मसम्बन्धी सिद्धि को लक्ष्य करकेही देवता आदि की उपासना कीजाती है इससे उनको इह लोक में सुख और मरणानन्तर स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है क्योंकि मनुष्यलोक में कर्म्मजनित सिद्धि अतिशीघ्र हुआ करती है * । जैसा कि श्रुति में कहा है कि जो लोग देवयज्ञ का अनुष्ठान करतेहुए अग्नि में आहुति प्रदान करते हैं उनको दीप्तिमती आहुतिगण प्रियवचन बोलकर सूर्यरश्मि के द्वारा दिव्यलोक में लेजाया करती हैं † ॥ २३ ॥

निकृष्ट विभूतियों के प्रति रसप्रवाह का क्या फल है—

अन्यों के प्रति भक्ति निकृष्ट है ॥ २४ ॥

* " यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः "
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

† एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ।
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ।
अन्येषामवरा ॥ २४ ॥

भूत प्रेत पिशाचादिकों के प्रति भक्ति पूर्वोक्त भक्तियों से निकृष्ट है। मति और रुचि की भिन्नताही इस तरह की निकृष्ट विभूतियों के प्रति भक्ति कराने का कारण है। उन्नत अधिकार के मनुष्य निष्काम होकर केवल भगवान् केही प्रति अनन्य भक्ति करते हैं जिससे उनको मुक्तिपद प्राप्त होता है। मध्यम अधिकारीगण सकाम कर्म-परायण होकर अभ्युदय की आशा से ऋषि देवता और पितृगण की उपासना करते हैं जिससे उनको इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। ये दोनों अधिकारी अच्छे हैं; परन्तु अधम अधिकारी मनुष्य स्वार्थ से अन्धे और विषय-लोलुप होकर मलिन वासनाओं को पूर्ण करने के लिये क्षुद्र विभूतिस्वरूप भूत प्रेतादिकों की उपासना करते हैं जिससे उनको फल भी वैसा ही मिलता है। ऐसी निकृष्ट भक्ति धार्म्मिकों के समीप सर्वथा निन्दनीय है ॥ २४ ॥

अब भक्ति की विशेषता के विषय में वर्णन किया जाता है—

भक्ति के द्वारा अमृतत्व लाभ होता है, उसका आस्वादन करने से पतन की सम्भावना नहीं रहती है ॥ २५ ॥

भक्ति के द्वारा भक्त अमर हो जाते हैं और वे अपने उन्नतपद से च्युत नहीं होते। साधारण अमृत के पानही

भक्त्यामृतत्वं तदास्वादादनवपातः ॥ २५ ॥

से जब देवतागण अमर हो जाते हैं तब परम अमृतरूप भगवद्भक्ति के आस्वादन से साधक अमर हो जायँगे इसमें संदेहही क्या है। रसरूप भगवान् में एकान्त अनुरक्त भक्त उन्हीं के चरणकमलोंमें लवलीन होकर समस्त विषयवासना को त्याग करने से, कृपासिन्धु भगवान् उनके प्रति कृपा परवश होकर उनको अपना सच्चिदानन्दमय परम स्वरूप दिखाते हैं जिससे उनको जनन मरणरूप संसार दुःख नष्ट होकर मुक्तिपद की प्राप्ति होती है। यही उनके लिये अमरता है। जैसा कि गीताजी में लिखा है कि भक्तिही के द्वारा भक्त मेरे यथार्थरूप से परिज्ञात हो सक्ते हैं और इस तरह से मुझे यथार्थतः जानकर अमृतमय परमपद को प्राप्त करते हैं *। समुद्रवक्ष में गमनशील तरङ्गमाला-कुला तरणी के चालकगण ध्रुव तारा का निरीक्षण करने से जैसे कदापि दिग्भ्रान्त न होकर गन्तव्य स्थान पर पहुँच सक्ते हैं, ऐसे ही संसारसमुद्र में कोटि कोटि जन्म से भ्रमणशील जीवन तरणीके चालक भक्त अपने हृदयाकाश में प्रकाशमान ध्रुव तारारूप श्रीभगवान् के प्रति भक्ति-रस लाभ करने से कदापि संसारसमुद्र में दिग्भ्रान्त होकर कुपथगामी हो अवनति को प्राप्त नहीं होते, प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नत होकर अन्त में सच्चिदानन्दमय भगवान् के

---

* भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

परमधाम को प्राप्त करते हैं । जैसा कि स्मृति में लिखा
है कि भगवान् की मधुर गुण कथा को श्रवण करते
करते भक्तोंके चित्तके समस्त पाप नष्ट होजाते हैं और उनमें
सत्त्वगुण की वृद्धि एवं ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती
है जिससे वे भक्त क्षुधा, तृषा, भय और शोक से रहित
होकर निशिदिन उसी अमृतपान में मत्त रहते हैं*॥ २५ ॥

भक्ति की दूसरी विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्ति में कामना नहीं है क्योंकि वह निरोधरूपा है ॥ २६ ॥

भक्ति में कामनारूप दोष नहीं है क्योंकि भक्ति निरोध-

---

* संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुताऽनुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥
अविस्मृतिः कृष्णपदाऽरविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिश्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्तमहताममलाशयानाम् ।
येनाऽञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाऽब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथाऽमृतपानमत्तः ॥
अकाम्या सा निरोधरूपत्वात् ॥ २६ ॥

रूपिणी है। मुक्ति की कामना कामना नहीं है क्योंकि जिस कामना के द्वारा समस्त कामनाएँ निवृत्त होती हैं वह कामना कामना नहीं कहलासक्ती, परन्तु सृष्टि की कारणस्वरूपा विषय-कामना ऐसी नहीं है क्योंकि उसके द्वारा क्रमशः कामनाओं की वृद्धि होती जाती है। जैसा कि स्मृति में लिखा है कि कामोपभोग के द्वारा कामकी शान्ति कदापि नहीं होसक्ती, प्रत्युत घृतकी आहुतिसे अग्नि की नाँईं पुनः पुनः कामना बढ़ती ही जाती है *। वासना-परायण जीव काल्पनिक विषयसुख में आसक्त होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो इतस्ततः विविध विषयोंमें सुख और शान्ति को अन्वेषण करते रहते हैं; परन्तु प्रकृति के परिणामिनी होने से यावतीय विषय-सुख नश्वर और क्षणभंगुर हैं इस लिये नित्यानन्दप्रयासी जीव को अनित्य विषय में सुख नहीं मिलसक्ता क्योंकि चित्त की शान्ति ही सुख का कारणहै। जैसा कि स्मृति में कहाहै कि वायुरहित स्थान में प्रदीप जैसे निश्चल निष्कम्प और स्थिर होकर रहताहै अथवा सुषुप्तिदशा में जैसा चित्त स्थिर होकर रहता है ऐसे ही जब चित्त की शान्ति हो तभी जीव को सुख मिल सक्ताहै †। परन्तु विषय के क्षणभंगुर होने से उसमें चित्तकी

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥

† लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥

इस प्रकार की शान्ति की कदापि संभावना नहीं है; प्रत्युत विषयभोग से अतृप्त चित्त पुनः पुनः चञ्चल होकर अनन्त अशान्ति और दुःखको उत्पन्न करता है। क्योंकि सृष्टि की कारणभूत वासना का यह धर्म्म है कि उससे अन्यान्य अनेक वासनाओं की उत्पत्ति होती रहती है जिसका कोई भी अन्त नहीं है क्योंकि स्मृति में लिखा है कि मनुष्यों का चित्त जितना ही विषय में आसक्त होता जाता है उतनी ही शोक और अशान्ति चित्त में बढ़ती जाती है। समस्त संसार में जितने धन, धान्य, कामिनी और काञ्चन हैं विषयासक्त एक मनुष्य को भी वे सब तृप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं इसलिये त्यागही परम सुख है। मनुष्यके हृदयमें तृष्णारूपिणी भीषण नदी प्रबला होकर सन्तोषरूपी सुवृक्षको समूल उन्मूलित करके बहा ले जाती है। हृदय में बद्धमूल जो कामवृक्ष है तृष्णालता उस वृक्ष की शत शत शाखाओं का आश्रय करके हृदय-कानन में विलास विस्तार करती है परन्तु उससे मनरूप मृगको कदापि शान्तिरूप फल की प्राप्ति नहीं होती है। केवल जब साधक का चित्त भगवान् के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करता है तभी भगवान् की कृपा से उस साधक के चित्त की सकल वासना समूल नष्ट हो जाती हैं और उनके शान्त चित्त में अपूर्व आनन्द और अध्यात्म प्रसाद का उदय होता है * क्योंकि जिस परमा-

* यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धाम्मनसः प्रियान्।

नन्द सत्ताके छायास्वरूप विषय सुख का आश्रय करके जीव उन्मत्त होरहे हैं उस छाया सुख के बदले में यदि जीवों को यथार्थ आनन्द मिले तो उसमें विषय वासना कैसे रहसक्ती है। इसी लिये श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है कि आहारशून्य मनुष्य का भी विषय-व्यापार निवृत्त होसक्ता है परन्तु उससे चित्त में स्थित वासना की निवृत्ति नहीं होसक्ती क्योंकि निराहार मनुष्यों के अन्तःकरण से वासना का बीज नष्ट नहीं होता है इस लिये आहार करने पर पुनः वह वासना-बीज अङ्कुरित होजाता है; परन्तु जब भक्त का चित्त भगवान् के चरणकमल में

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥
यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नाऽलमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥
तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताऽखिलाऽनन्तपदार्थजाता।
तटस्थसन्तोषसुवृक्षमूल-
निकाशदक्षा वहतीह लोके ॥
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी-
शाखाशतं काममहीरुहेषु।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं-
मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥
चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाऽशुभम्।
प्रसन्नाऽऽत्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥

ान हो जाता है तब उनकी सकल कामनायें समूल विनष्ट होजाती हैं और उनको मनोनाश, तत्त्वज्ञान, परमानन्दमय निर्विकल्प समाधि और पराभक्ति प्राप्त होजाती है *। जैसा कि श्रुति में लिखा है कि जब साधक के चित्त से कामना विनष्ट होजाती है तभी उनको परब्रह्म पदकी प्राप्ति होती है, उनके हृदय की समस्त वासना-ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, समस्त संशयजाल छिन्न होजाता है और समस्त कर्म क्षय होजाते हैं †। और स्मृति में लिखा है कि भक्त का चित्त जब एकान्तरति होकर भगवान् में विलीन हो जाता है तब उसकी सकलकामनानिवृत्ति होजाती है और वासनाशून्य समाधिशुद्ध उस अन्तःकरण में अद्वितीय परमानन्द सत्ता का अनुभव होता है और ईदृश भक्त प्रकृति से अतीत, सुख दुःख से अतीत और गुणातीत होकर आत्माराम होजाते हैं ‡। इसलिये ही भक्तिकामना

* विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥

† यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

‡ मुक्ताऽऽश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥

कदापि कामनापदवाच्य नहीं होसक्ती है ॥ २६ ॥

पुनरपि भक्ति की विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्ति स्वयं फलरूप होने से सर्वफलप्रदा है ॥ २७ ॥

भगवद्भक्ति के द्वारा साधक को सकल प्रकार के फलो की प्राप्ति होती है क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूपही है । भक्ति समस्त साधना का फल है, क्योंकि जन्म जन्मान्तर की तपस्या के द्वारा चित्तका मल जब विदूरित होता है तभी भगवान् की कृपा से साधक के चित्त में भगवान् के प्रति भक्ति-भाव का उदय होता है । उनकी करुणारूप मलय पवन चिर दिन से ही बह रहा है, परन्तु जब मनरूपी तरणी (नाव) भक्तिरूप पक्ष (पाल) को विस्तार करती है तभी जीव को भगवान् की कृपाप्राप्ति होती है; परन्तु इस प्रकार का भक्तिलाभ बहुजन्मार्जित तप के द्वारा साध्य है । और स्मृति में भी लिखा है कि सहस्र सहस्र जन्म से लब्ध तप ध्यान और समाधि के द्वारा भगवान् के प्रति भक्ति का उदय होता है * । ईदृश भक्ति के लाभ करने से

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥

स्वयं फलरूपत्वात् सर्वफलप्रदा ॥ २७ ॥

* जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः ।

साधक अध्यात्मराज्य में क्रमशः उन्नति करते हुए अन्त में रसानन्दमय परमपद को प्राप्त करते हैं । जैसा कि स्मृति में लिखा है कि भगवान् के प्रति भक्ति के द्वारा साधक का समस्त संसारबन्धन नष्ट होजाता है, कर्म्मों के निखिल बीज नष्ट होजाते हैं, संसारचक्र में परिभ्रमण निरस्त होता है, आनन्दमय भगवान् के साक्षात्कार होने से उनको असीम निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है * । श्रीगीताजीमें भी लिखा है कि भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् के यथार्थ स्वरूप को परिज्ञात होकर परमपद को प्राप्त करते हैं । जो पद सकल पुरुषार्थका चरम फलरूप और मनुष्यजन्म का श्रेष्ठतम लक्ष्य है, उसके प्राप्त करने से साधक को और कुछ भी प्राप्त करना अवशेष नहीं रहता है † ।

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥

* तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

और इसीलिये श्रीभगवान् ने पुनः गीताजी में कहा है कि आनन्दमय ब्रह्मपद के लाभ करने से भक्त को और कोई लाभ प्रियतर मालूम नहीं होता है और सच्चिदानन्द सिन्धु में निमग्न भक्त प्रारब्ध कर्म्मजनित तीव्र दुःख के द्वारा अणुमात्र भी विचलित नहीं होते हैं * । और ऐसा भी लिखा है कि जिस प्रकार विशाल समुद्र में स्नान करने से कूप तड़ागादिकों में स्नान करने का फल तो होता ही है; अधिकन्तु सर्वतोव्याप्त समुद्र में अवगाहन के द्वारा अधिकतर शान्ति प्राप्त हुआ करती है, इसी तरह से सकाम साधनों के द्वारा तत्तल्लोकादिकों की प्राप्ति होने से सकाम साधक को जो परिच्छिन्न आनन्द का लाभ होताहै, निष्काम साधन के द्वारा लभ्य ब्रह्मपद में उन सब परिच्छिन्न आनन्दों का अन्तर्भाव तो है ही; अधिकन्तु ब्रह्मानन्द के असीम और अपरिच्छिन्न होने से ब्रह्मानन्द सिन्धु में निमग्न भक्त को अधिकतर आनन्द की प्राप्ति होती है † और इसलिये ही श्रुति में लिखा है कि भूमानन्द की सत्ता ब्रह्म में ही विद्यमान है जोकि भगवद्भक्त साधक को प्राप्त होती है, और विषयमुग्ध जीव उस आनन्द के छायामात्र का उप-

---

* यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकन्ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥

† यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

भोग करते हैं * । इसलिये सकल साधनों की फलरूपिणी भक्ति सर्वसिद्धिप्रदायिनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं । और उपनिषदों में भी लिखा है कि भक्ति के द्वारा भगवान् को प्राप्त करने से साधक की हृदयग्रन्थि नष्ट होजाती है, समस्त सन्देह दूर होजाते हैं और अखिल कर्म्म क्षय हो जाते हैं । उनके चित्त में प्रारब्धवेग से अथवा समष्टिरूप से आश्रित समस्त सदिच्छा तत्काल ही पूर्ण होजाया करती हैं † पराभक्ति की यही श्रेष्ठता है ॥ २७ ॥

अब भक्ति का स्वरूप निर्णय किया जाता है—

भक्ति ज्ञान नहीं है क्योंकि शत्रु का भी ज्ञान होता है परन्तु उसमें भक्ति नहीं होती ॥ २८ ॥

भगवान् के विषय में ज्ञान और भगवान् के प्रति भक्ति, यह दोनों एक वस्तु नहीं है, ज्ञान होने सेही भक्ति होजायगी, ज्ञान के साथ भक्ति का ऐसा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि संसार में ऐसा देखा जाता है कि शत्रु के विषय में मनुष्य को विशेष ज्ञान रहने पर भी शत्रु के साथ बिन्दुमात्र भी

* आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात् । एषोऽस्य परमानन्दोऽन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामुपजीवन्ति।

† भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयते चाऽस्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वःकामयते यांश्चकामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥
नाऽसौ ज्ञानं ज्ञानसत्त्वेऽपि द्विषतस्तदसत्त्वात् ॥ २८ ॥

प्रीति नहीं होती है । भगवान् में अनुराग ज्ञानसापेक्ष नहीं है, अनुराग का राज्य कुछ और ही है । इसमें चित्त का भाव, हृदय की एकतानता और दीनबन्धु भगवान् की दया ही एकमात्र अवलम्बन है । और स्मृति में भी लिखा है कि जिस भक्ति के द्वारा शरीर मन और आत्मा पवित्र होकर साधक को आनन्द सागर में निमग्न करती है उस भक्ति का प्रकाश ज्ञान में नहीं, परन्तु प्राण के स्पन्दन में, भाव के उच्छ्वास में, अंग प्रत्यंग के पुलक में, हृदय की आर्द्रता में और आंखों की आनन्दाश्रुधारा में ही है * यही हृदय-विहारिणी भक्ति की माधुरी है ॥ २८ ॥

भक्ति के उन्नत भाव का वर्णन किया जाता है—

पराभक्ति स्वरूपज्ञान का ही नामान्तर है ॥ २९ ॥

परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और पराभक्ति एक ही वस्तु है । ज्ञान दो प्रकार के हैं । यथा—तटस्थ और स्वरूप । तटस्थ ज्ञान में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटी रहती है । अर्थात् इस दशा में ज्ञेय परमात्मा, ज्ञाता साधक और ज्ञान-रूप व्यापार के रहते हुए आत्मा की उपलब्धि होती है ।

---

* कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः ।
मयि प्रेमाऽऽकुलव्रती रोमाञ्चिततनुः सदा ।
प्रेमाऽश्रुजलपूर्णाक्षः कण्ठगद्गदनिस्वनः ।
स्वरूपज्ञानाऽपरपर्य्याया सा ॥ २९ ॥

न्तु स्वरूपज्ञान की दशा में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटी
ा पूर्णतया विलय होकर एकमात्र अद्वितीय सच्चिदा-
न्दस्वरूप ब्रह्म ही रह जाते हैं। निर्विकल्प समाधिस्थित
ाजयोगी ज्ञानी महापुरुष इसी अद्वैतभाव की उपलब्धि
रते हैं और भगवान् सच्चिदानन्द के आनन्दभाव में
नेमग्न साधक भी भक्ति की परा दशा में सर्व्वत्र आनन्द-
रूप परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए इसी अद्वितीय-
ाव की उपलब्धि किया करते हैं। इसलिये ही पराभक्ति
और स्वरूपज्ञान एकही वस्तु है। जैसा कि स्मृति में कहा
ाया है कि भगवान् के मधुर गुण-कीर्त्तन में लवलीन
ाधक भगवान् में ही आत्मनिवेदन करके अहंकाररहित
होकर धीरे धीरे देह के प्रति अध्यासशून्य होजाते हैं। और
इस प्रकार से आत्माराम होने पर साधक के चित्तसे तटस्थ-
भाव का विलय हो उन्हें निखिल जगत् में ब्रह्म के अति-
रिक्त और कुछ भी नहीं दिखता है यही पराभक्ति की दशा
है। इस दशा के साथ स्वरूपज्ञान की दशा, निर्विकल्प
समाधि की दशा, और परवैराग्य की दशा का कोई भेद
नहीं है *। जिस भाग्यवान् साधक को इस दशा की प्राप्ति
होती है वे शास्त्र में भागवतोत्तम कहलाते हैं। जैसा कि
स्मृति में लिखा है कि जो भक्त सकल भूत में सच्चिदानन्द-

* उच्चैर्गायंश्च नामानि ममैव खलु नृत्यति।
अहंकाराऽऽदिरहितो देहतादात्मवर्जितः॥

रूप भगवान् का भाव और प्रस्तर-खोदित मूर्ति की नाई भगवान् में ही निखिल चराचर विश्व को देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं, † क्योंकि श्रुति में भी लिखा है कि आनन्दरूप भगवान् से ही निखिल जीवों की उत्पत्ति, आनन्दरूप भगवान् में ही जीवों की स्थिति और आनन्दरूप भगवान् में ही जीवों का लय हुआ करता है ‡। इसीलिये शान्त साधक सर्वतोव्याप्त आनन्दरूप भगवान् में ही चित्त को विलीन करके पराभक्ति की दशा में स्वरूपज्ञान को प्राप्त किया करते हैं। पराभक्तिदशा की उपलब्धि और श्रीभगवान् के स्वरूप में किञ्चित्मात्र भी भेद नहीं रहता; उसी दशा में तत्त्वमसि आदि महावाक्यों की चरितार्थता होती है ॥ २९ ॥

इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता ।
यस्यान्तदतिरिक्तं तु न किञ्चिदपि भाव्यते ॥
इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर ! तत्त्वतः ।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत् ॥
भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम् ।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः ॥
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥

‡ आनान्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
" सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् ॥"

पराभक्ति की दशा में स्वरूपज्ञान के उदय होने से क्या होता है ?—

उसके उदय से तटस्थज्ञान का लय होता है ॥ ३० ॥

भक्ति की परादशा में स्वरूपज्ञान के आविर्भाव होने से तटस्थज्ञान का तिरोभाव होता है। वैधी और रागात्मिका नाम से गौणी भक्ति के जो दो भेद हैं इन दोनोंही के साथ तटस्थज्ञान का सम्बन्ध है। अर्थात् वैधी भक्ति की प्रथम कक्षा से लेकर रागात्मिका भक्ति के अन्तर्गत तन्मयासक्ति पर्य्यन्त सब दशा में ध्याता और ध्येय का पृथक् सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु भक्ति की परादशा में स्वरूपज्ञान के उदय होने से साधक को सर्वत्र अद्वितीय सच्चिदानन्द का दर्शन होताहै। उस समय ध्याता और ध्येय की एकाकारकारिता होकर साधक की स्थिति स्वस्वरूप में हुआ करती है। इसलिये ही श्रुति में लिखा है कि जब तक तटस्थज्ञान अर्थात् द्वैतज्ञान रहता है तबतक द्रष्टा और दृश्य में भेद रहता है, और जब तटस्थज्ञान का विलय होकर स्वरूपज्ञान का उदय होता है तब द्वैतभाव के सम्पूर्णतः नष्ट होजाने से अद्वितीय परब्रह्मभाव में साधक की स्थिति होती है *॥ ३० ॥

तदाविर्भावात्तटस्थज्ञानलयः ॥ ३० ॥

* यत्र हि द्वैतमेव भवति यत्र वाऽन्यादिव स्यात्तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्, यत्र त्वस्य सर्वात्मतैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्। इति॥

ज्ञान की भी अपेक्षा भक्ति की विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्ति ज्ञान के समान अनुष्ठाता की अनुष्ठानसाध्या नहीं है ॥ ३१ ॥

ज्ञान के समान अनुष्ठान के द्वारा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार विज्ञान की जिज्ञासा, श्रवण, मनन आदि करने पर तटस्थज्ञान का उदय होता है, भक्ति उस प्रकार की नहीं है। ज्ञान के साधक के विषय में श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि गुरु के प्रति प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा के द्वारा ज्ञान प्राप्त होसक्ता है *। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि ज्ञान के हेतु तीन प्रकार के हैं। श्रुतिवाक्यों से श्रवण, श्रुतविषय का मनन एवं मनन के पश्चात् उस सब का ध्यान अर्थात् अनुभूति †। परन्तु भक्ति-प्राप्ति के उपाय ये सब नहीं हैं। भक्ति केवल श्रीभगवान् की कृपा से ही प्राप्त हुआ करती है। यद्यपि वैधीभक्ति के साधन के समय अनुष्ठान की आवश्यकता होती है; तथापि वैधी से रागात्मिका और रागात्मिका से परा, इस प्रकार इन दोनों प्रकारकी भक्तिकी

नानुष्ठात्रनुष्ठानविषया ज्ञानवत् ॥ ३१ ॥

* तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

† श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिं
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

सन्धियों में केवल भगवत्कृपा काही अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है। अर्थात् वैधीभक्ति की दशा में विधियों का अनुष्ठान करनेसेही रागात्मिका भक्तिकी प्राप्ति होगी, एवं रागात्मिका भक्ति के साधन पूर्ण होतेही पराभक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा नहीं है। वैधी से रागात्मिका की दशा में आना हो तो भगवान् की कृपा विना साधक नहीं आसक्ता है। इसी प्रकार रागात्मिका से पराभक्ति की दशा में आना हो तो भगवत्कृपा की आवश्यकता होगी। इस कारण ही श्रुति में लिखा है कि आत्मा शब्द अथवा बुद्धि के द्वारा प्राप्त नहीं हो सक्के, जिस पर आत्मा कृपा करते हैं उसके समीपही अपना सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट करते हैं*॥ ३१॥

पात्रापात्र-विचार की आवश्यकता होने से भक्ति का विशेषत्व वर्णन किया जाता है–

भक्ति सबहीकी आश्रयभूता है, इस कारण ज्ञानी अथवा अज्ञानी सबही इसको प्राप्त होते हैं॥ ३२॥

ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, सबही भक्ति के द्वारा उन्नति लाभ कर सक्के हैं, क्योंकि भक्ति सबकी आश्रय स्थल

* नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

ज्ञाननिष्ठेतरयोस्तल्लाभः सर्व्वाश्रयत्वात्॥ ३२॥

है । जिस प्रकार कर्म्मकाण्ड में आर्य्य अनार्य्य चतुर्वर्ण चतुराश्रम स्त्री पुरुष आदि भेदों के अनुसार अधिकारि-निर्णय की आवश्यकता होती है; अथवा जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड के अधिकारी होने से पहले साधन-चतुष्टय सम्पन्न होना पड़ता है, इस प्रकार की कोई विधि भक्ति में नहीं है । समदर्शी करुणासिन्धु भगवान् के चरणकमलों का आश्रय करने में स्त्री पुरुष बाल वृद्ध आर्य्य अनार्य्य ज्ञानी अज्ञानी सब काही समान अधिकार है । इसी प्रकार स्मृति में भी कहा है कि अज्ञानी एवं विषयासक्त मनुष्य भी यदि भक्तिलाभ कर सके तो उसकी विषयासक्ति दूर होकर उन्नति होती है । भगवद्विषयिणी भक्ति चाण्डाल को भी पवित्र करके मुक्तिमार्ग का अधिकारी करती है * । भक्ति का अधिकारी समानरूप से सकल प्राणीमात्र का परम आश्रयस्वरूप है ॥ ३२ ॥

भक्ति सब साधनों की मूलरूप है इस कारण उसका विशेषत्व वर्णन किया जाता है—

निखिल साधकों को अपेक्षित होने से भक्ति सर्व्व श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

---

* वाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाऽभिभूयते ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
सा परार्द्ध्या निखिलसाधकाऽपेक्षित्वात् ॥ ३३ ॥

किसी प्रकार का भी साधक क्यों न हो, साधनमार्ग में अग्रसर होना हो तो सबको ही भक्तिका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है इस कारण भक्ति श्रेष्ठतमा है। स्मृति में कहा है कि जिस प्रकार जल समस्त संसार का जीवन-स्वरूप है; उसी प्रकार भक्ति भी समस्त सिद्धियों की जीवनस्वरूपिणी है *। कर्म्मासक्त अज्ञ अथवा तत्त्वदर्शी ज्ञानी, प्रवृत्तिमार्गसेवी गृही अथवा निवृत्तिपथचारी संन्यासी, जो कोई जिस प्रकार का ही साधक क्यों न हो, साधनमार्ग में धीरता, स्थिरधारणा एवं तीव्र संवेग प्राप्त करने के अर्थ सबको ही भगवद्भक्ति की आवश्यकता होती है। पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि प्रभुने योगदर्शन में लिखा है कि चित्तका तीव्र संवेग स्वरूपोपलब्धि में आसन्नतम उपाय है †। भक्ति के द्वारा ही साधक इस संवेग को प्राप्त करसक्ता है। स्मृति में लिखा है कि जिस प्रकार अजातपक्ष पक्षिशावक माता के दर्शन की इच्छा करता है, जिस प्रकार छोटा बच्चा अत्यन्त क्षुधार्त्त होकर माता के स्तन्य पान की इच्छा करता है और जिस प्रकार विषण्णा सती स्त्री प्रवासगत अपने पति के दर्शन की इच्छा करती है; उसी प्रकार जब साधक के चित्त में भगवान् के प्रति तीव्र दर्शनाकांक्षा होती है तभी उनके दर्शनों का लाभ होता

---

* यथा समस्तलोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम्।
तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यते ॥

† तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

है*। साधक के मन में इस प्रकार की तीव्र आकाङ्क्षा भक्ति के द्वारा ही होती है इस कारण भक्ति ही सर्व्व श्रेष्ठा है॥३३॥

भक्ति की सार्व्वभौमता दिखाकर विशेषत्व वर्णन कियाजाता है—

भक्ति धर्म्म के सकल अङ्गों की ही सहायिका है॥३४॥

भक्ति अखिल धर्म्माङ्गोंकी सहकारिणी है। कर्म्म, उपासना, ज्ञान, यज्ञ, तप, दान आदि धर्म्मके सकल अङ्गोंकी ही पूर्ति के अर्थ भगवद्भक्ति अपेक्षित होती है। विना अनुराग के किसीको भी धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी अनुराग की वृद्धि करके धार्म्मिक मनुष्यों के चित्तमें धर्म्म की दृढ़ता सम्पादन के अर्थ भगवद्भक्ति ही प्रधान सहायभूता है। यह भी भक्ति की असाधारण महिमा है॥ ३४ ॥

पापनाशिका होने से भक्ति का विशेषत्व वर्णन किया जाता है—

सामान्य भक्ति के उदय होने पर भी महापाप विनष्ट होते हैं॥ ३५ ॥

---

* अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष ! दिदृक्षते त्वाम्॥

सर्व्वधर्म्माङ्गप्रपन्ना च ॥ ३४ ॥

लघूदितायामपि महाकल्मषहानम् ॥ ३५ ॥

स्वल्पमात्र भक्ति के उदय होने से ही महापाप नाश होते हैं। भक्ति की यह एक अपूर्व्व महिमा है कि महापापी भी भगवद्भक्ति का लाभ करने पर पापशून्य होकर पुण्य-मय अध्यात्म राज्य में अग्रसर हो सक्ता है । इसी प्रकार स्मृति में भी लिखा है कि भक्तियुक्त होकर निशिदिन भगवान् का नाम स्मरण और कीर्त्तन करने से, जिस प्रकार सूर्य्योदय के समय अन्धकार नाश हो जाता है; उसी प्रकार चित्त का समस्त मल दूर होकर सत्त्वगुण की वृद्धि, शान्ति, वैराग्य और ज्ञान लाभ होताहै * । जिस प्रकार ज्ञान दशा में अज्ञान का चिह्नमात्र भी नहीं रहता है, सत्त्व-गुण का उदय होकर तमोगुण विलीन होजाता है; उसी प्रकार भगवान् के प्रति पवित्र अनुराग के उदय होने पर पाप समूल विनष्ट होजाता है । स्मृति में भी कहा है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि शुष्ककाष्ठ को भस्मसात् कर देती है; उसी प्रकार भगवद्भक्ति पापराशि को दग्ध करती है।

---

* सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमि वाति वातः ॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥

जिस प्रकार अग्नि में दग्ध होकर सुवर्ण निर्मल और स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त होता है; उसी प्रकार से जीव भगवद्भक्ति के लाभसे मलिन कर्म्मसंस्कारों से च्युत होकर अध्यात्मपथ में अग्रसर होता है । भक्तिद्वारा पुलकिताङ्ग, द्रवीभूतचित्त और आनन्दाश्रु विगलित न होनेसे जीवकी आन्तरिक पवित्रता नहीं होती है * । जैसे समाधिद्वारा चित्तका साम्य होता है, इस कारण समाधि के उदय होने पर चित्तका वैषम्यभाव समूलोन्मूलित होताहै; इसी प्रकार भक्ति के साथ परमानन्दपद का सम्बन्ध होने से सामान्य भक्ति के उदय होतेही निरानन्दमय पापराशि विदूरित होती है॥३५॥

भक्ति सब जीवों की हितकारिणी है इस कारण उस की विशेषता वर्णन कीजाती है–

नीचयोनि का मनुष्य भी भक्ति का अधिकारी होता है । परम्परा के विचार से सब भक्त ही समान हैं ॥ ३६ ॥

---

* यथाऽग्निः सुसमृद्धाऽर्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
यथाऽग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्म्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥

अन्त्यजयोनिरप्यधिक्रियते पारम्पर्य्यात्सामान्यम् ॥ ३६ ॥

भक्ति की यह एक विशेष महिमा है कि अत्यन्त अधम-जाति का मनुष्य भी भक्ति का अधिकारी होसक्ता है। कारण-परम्परारूप से सब भक्त ही समान हैं। नीच योनि होने पर भी पूर्व्वजन्मसञ्चित पुण्यपुञ्ज के प्रभाव से यदि किसीके चित्त में भगवान् के प्रति अनुराग का उदय हो तो कौन उसको पराभक्ति के पथ से विच्युत करसक्ता है? श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि "अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यरतियुक्त होकर मेरी उपासना करे तो उस को साधु ही मानना चाहिये; उसकी दुराचारिता नष्ट होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी। मेरा आश्रय करके अत्यन्त पापयोनि स्त्री वैश्य और शूद्रपर्य्यन्त परमगति प्राप्त होते हैं" *। समदर्शी परम कृपालु भगवान् अपने सकल भक्तों को समदृष्टि से देखते हैं। समता-बुद्धि का नाश होने पर परम प्रेमदा भक्ति का स्वरूप नष्ट होता है। भक्ति की वैधी दशा में शीलादि द्वारा, रागात्मिका दशा में प्रेम-साम्यभाव द्वारा एवं परा दशा में समता बुद्धि द्वारा इस समता और समदृष्टिता का विकाश होता है ॥ ३६ ॥

विधि निषेध आदि दूर करने की शक्ति होने के कारण भक्ति का विशेषत्व वर्णन कियाजाता है—

---

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥

अनुभव होने पर विधि निषेध नहीं रहता है॥३७॥

भक्तिभूमि पर अग्रसर होकर साधक जब अन्त में परा भक्ति की दशा को प्राप्त होता है तब वह विधि निषेधका अतिक्रमण करता है। विधि अथवा निषेध, कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य ये सब त्रिगुणमयी प्रकृति के राज्य की वस्तु है। तटस्थ ज्ञान की दशा में ये सब आवश्यक होते हैं; किन्तु साधक पराभक्ति प्राप्त होने पर निस्त्रैगुण्य पदवी का लाभ करके प्रकृति राज्यको अतिक्रमण करता है इस कारण जीवन्मुक्ति की दशा में धर्म्माधर्म्म वा विधि निषेध नहीं रहता है। इसी प्रकार स्मृति में भी लिखा है कि "ज्ञानदशा में धर्म्म और अधर्म्म का त्याग होता है, सत्य और असत्य का त्याग होता है एवं जिसके द्वारा इन सबका त्याग होता है उसका भी परित्याग होता है। असङ्कल्प के द्वारा धर्म्म, अलिप्सा के द्वारा अधर्म्म और बुद्धि के द्वारा सत्यासत्य त्याग करके परमपद में स्थिति लाभ करतेहुए बुद्धि का भी त्याग करना होता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त भक्त रजोगुण और तमोगुण को सत्त्वगुण के द्वारा दमन करके निर्विकल्प समाधिदशागत साम्यभाव का अवलम्बन करतेहुए

विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवात् ॥ ३७ ॥

सत्त्वगुण को भी दमन करते हैं" *। यदि च ऐसे समय में लोकशिक्षा के और बुद्धिभेद निवारणके अर्थ वे आचार अथवा वर्णाश्रम धर्म्म का किसी प्रकार से भी अपलाप नहीं करते हैं क्योंकि गीता में कहा है कि "श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखकरही साधारण मनुष्य अपना अपना आचरण सीखते हैं" †; तथापि वास्तवतः समाधि दशा में परमानन्द-समभाव-विरोधी किसी प्रकार का वैषम्यभाव न रहने से वे विधि निषेध को सर्व्वथा अतिक्रमण करते हैं। विधि निषेध उनके उस समय किङ्कर होकर रहते हैं। ‡ इसी प्रकार स्मृति में भी कहा है कि ज्ञानी जीवन्मुक्त भक्त अन्तःकरण में भेदभाव न रहने पर भी लोक-शिक्षा के अर्थ द्वैतभाव के अनुकूल उपदेश प्रदान करते हैं। "वे बालक के निकट बालक, विद्वान् के निकट विद्वान्, गायक के निकट गायक, वीर के निकट वीर, शास्त्रज्ञ के निकट शास्त्रज्ञ, सिद्ध के निकट सिद्ध, सत्पुरुष के निकट

* त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥
त्यज धर्म्ममसङ्कल्पादधर्म्मञ्चाप्यालिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात्॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चानशनेन च।

† यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

‡ सर्व्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः।

सत्पुरुष, प्रौढ़ के निकट प्रौढ़, मौनी के निकट मौनी, गुणी के निकट गुणवान्, पण्डित के निकट पण्डित, दीन के निकट दीन, भोगी के निकट भोगी, वक्ता के निकट वक्ता, अधिक क्या, वे परमधन्य त्रिभुवनविजयी महापुरुष अवधूत के निकट अवधूत होकर समस्त संसार के जीवों को अपने अपने अधिकार के अनुसार उन्नत करतेहुए क्रिया की द्वैतता रखकर भी सर्व्वदा भाव में अद्वैतता का अवलम्बन करतेहुए विधि निषेध परित्याग करते हैं" * ॥ ३७ ॥

भक्ति सकल दशाओं में ही फलवती होती है इस कारण उसका विशेषत्व वर्णन कियाजाता है–

भाव दृढ़ न होने पर भी सालोक्य को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

भक्तिमार्ग में प्रविष्ट साधक भक्तिभाव की दृढ़ता को प्राप्त

---

* बाले बाला विदुषि विदुषा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाम्नायलीलागृहाणि ।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढा किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु ॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान्पण्डिते पण्डितोसौ,
ने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः ।
मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
यः कोपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः ॥
वेपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम् ॥ ३८ ॥

न होने पर भी सालोक्य लाभ करते हैं। भगवान् में भक्ति प्राप्त होकर भी जो प्रारब्ध-वश अथवा अन्य कारण से पराभक्ति प्राप्त नहीं होता है, भक्ति की इस प्रकार की महिमा है कि वह पूर्ण न होने पर भी पतित नहीं होता है। अपने इष्टदेव के लोक को वह प्राप्त होता है। आध्यात्मिक उन्नति की शास्त्रों में प्रधानतः दो गति कहीगई है। एक सहजगति और दूसरी क्रमोर्द्धगति। जो भगवान् में चित्त अर्पण करतेहुए क्रमशः उन्नति लाभ करके अन्त में परा भक्ति की दशा में प्राप्त होकर ज्ञान लाभ करते हैं वे सहज गति प्राप्त होते हैं; अर्थात् उनकी मुक्ति इस संसार में रहते हुएही होजाती है। इस विषय में श्रुति में कहा है कि "उन का प्राण ऊर्द्ध्वगमन नहीं करता है, यहीं स्वकारण में लीन होजाता है" *। इसी प्रकार स्मृति में भी लिखा है कि "इस लोक में ही जिनको प्रत्यगात्मा का ज्ञान होता है उनके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, उनकी 'अहं मम' इस अविद्या ग्रन्थि का मोचन होकर ज्ञानोदय होने पर ब्रह्मभाव प्राप्ति होती है। आत्मा की सच्चिदानन्द सत्ता सकल जीवों के हृदय में ही निहित है। भ्रान्त व्यक्ति जिस प्रकार कण्ठ में हार विद्यमान रहने पर भी उसको भूलकर चारोंओर अन्वेषण करता है, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त जीव अन्तःकरण में आत्मा की सत्ता न समझ कर संसार पङ्क में निमग्न होता है। दुग्ध में घी की नाईं ज्ञान सर्व्वत्र

* न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते।

विराजमान है, केवल शुद्धान्तःकरण रूपमथनदण्ड के द्वारा मथन करसकने से ही ज्ञान का प्रकाश होकर इस लोक में ही विदेह मुक्ति लाभ होती है"। * किन्तु प्रारब्ध वश जिसके भाग्य में सहजगति की प्राप्ति न हो वह शरीर त्याग करने के समय अपने भाव की दृढ़ता के अनुसार श्रेष्ठ देवलोक को प्राप्त होते हैं । इसको किसी किसी के मत में सालोक्य मुक्ति भी कहते हैं। श्रीभगवान् ने गीता जी में लिखा है कि "मृत्यु के समय में चित्त में जिस प्रकार की भावना लेकर साधक शरीर त्याग करते हैं, भाव की दृढ़ता के अनुसार वे वही लोक ही प्राप्त होते हैं" †। इसको ही शास्त्रों में उत्तरायण गति अथवा क्रमोर्द्ध्वगति-

---

* त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाऽहमितिप्ररूढम् ॥
इहैव यस्य ज्ञानं स्याद्धृद्गतप्रत्यगात्मनः ।
मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न ॥
ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः ।
कण्ठचामीकरसममज्ञानात्तु तिरोहितम् ॥
ज्ञानादज्ञाननाशेन लब्धमेव हि लभ्यते ।
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥
† यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ।

कहा गया है । इस गति के अनुसार कोई भक्त विष्णुलोक कोई ब्रह्मलोक इत्यादि विविधलोकों में निवास करते हैं । ब्रह्मलोक प्राप्ति के विषय में श्रुति में कहा है कि "इस प्रकार के महत्पुरुष के प्राणत्याग करने के समय हृदयाग्र प्रज्वलित होकर चक्षु मस्तक अथवा और किसी ऊर्द्ध्वदेश के द्वारा प्राण बहिर्गत होते हैं । उस समय में उन उन लोकों से दिव्यपुरुष अथवा आहुतियाँ आकर सूर्य्यरश्मियों के द्वारा उसको ऊपर ले जाते हैं" * । उसका ऊपर जाने का क्रम श्रुति में अद्भुतरूप से वर्णित हुआ है, यथा— " वह भक्त देवयानमार्ग में आरोहण करके क्रमशः

* तपःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये
  शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यं चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
  यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
एह्येहीति तमाहुतयः सूर्य्यवर्चसः
  सूर्य्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
  एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं
  प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा
निष्क्रामति चक्षुष्टो वा
  मूर्द्ध्नोवाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ।
अथ यत्रैतदस्माच्छरी-
  रादुत्क्रामत्यथैतैरेषो रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते ।

अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोक अतिक्रमण करता हुआ अन्त में ब्रह्मलोक में उपस्थित होता है । इस ब्रह्मलोक के जीव अन्यप्रकार के होते हैं और वहां के ह्रद नदी वृक्षादि सबही अन्य प्रकार के होते हैं। वहां भक्त ब्रह्माजी के साथ सानन्द वास करके महाप्रलय के समय ब्रह्माजी की आयु के पूर्ण होने के साथही साथ विदेह मुक्तिलाभ करके ब्रह्माजी के साथ परब्रह्म में विलीन होता है"*। इस प्रकार से स्मृतियों

य यावत् क्षिपेन्मनस्तावदादित्यं गच्छति।
अथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परस्वतो वसन्ति तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः सा या ब्रह्मणो जितिर्या च व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दति। तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्मलोकं गमयति। ब्रह्मलोकाद्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परस्वतो वसन्ति।

* स एतं देवयानपन्थानमासाद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य अयो ह्रदो मुहूर्त्तो येष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षस्तत्र स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवाऽत्येति स एष विसुकृतो विसुष्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाऽभिप्रैति।
ब्रह्मणा सह ते सर्व्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

में देवीलोक का और विष्णुलोक का भी यथेष्ट वर्णन पाया जाता है। देवीलोक के विषय में वर्णित हुआ है कि "भक्ति अनुष्ठित होने पर भी दुष्प्रारब्ध होने से जिसको ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है वह भक्त मणिद्वीप में जाता है। वहां इच्छा न होने पर भी वह विविधभोग्य वस्तुओं को प्राप्त होता है। इस मणिद्वीपमें भक्त क्रमशः ज्ञान लाभ करता हुआ विदेह मुक्तिलाभ करता है" *। इस प्रकार विष्णुलोक के विषय में भी वर्णित हुआ है कि "वहां सब ही चतुर्भुज और विष्णुमूर्तिधारी एवं निष्कामभाव से भगवच्चरणसेवी हैं। सत्त्वस्वरूप धर्म्म वहां कृष्णमूर्ति में विराजमान है। वहां का उद्यान कल्पवृक्षों से पूर्ण है और सकल ऋतुओं में ही समान शोभा धारण करता हुआ निःश्रेयस फल प्रदान करता है। अनन्त भोग्य वस्तुएँ रहने पर भी सब ही वहां वैराग्यवान् हैं और निशिदिन भगवान् के गुणगान में प्रवृत्त हैं। पारावत कोकिल चक्रवाक आदि विहङ्गमगण अच्छी तानों से भगवान् का कीर्त्तिकलाप वर्णन करते हैं। साक्षात् लक्ष्मी देवी उनके भवन में गृहमार्ज्जन करती है" †।

---

* भक्तौ कृतायां यस्याऽपि प्रारब्धवशतो नग ! ।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥
तत्र गत्वाऽखिलान्भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति ।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ! ॥
तेन मुक्तः सदैव स्याज् ज्ञानान्मुक्तिर्न चाऽन्यथा ।

† वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्व्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः ।

इस प्रकार के त्रैलोक्यमोहन विष्णुधाम में भक्त प्रलय तक निवास करके अन्त में परमपद में विलीन होता है । यही अविपक्वभक्ति साधक का सालोक्य लाभ है ॥ ३८ ॥

येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्म्मेणाऽऽराधयन् हरिम् ॥
यत्र चाऽऽद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वान्तं नो मृडयन्वृषः ॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्व्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्त्तिमत् ।
वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥
पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥
मन्दारकुन्दकुरवोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्च्चिते तुलसिकाऽऽभरणेन तस्या
यस्मिँस्तपः सुमनसो बहुमानयन्ति ॥
श्रीरूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्ज्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥

अविरोध गति होने के कारण भक्ति का प्राधान्य वर्णन किया जाता है—

क्रम की आवश्यकता नहीं होती है॥ ३९॥

भक्तिलाभ के अर्थ साधन का कोई क्रम नियम नहीं है। यह भक्ति का अन्यतम विशेषत्व है कि जिस प्रकार अन्यान्य साधनमार्ग में क्रम की विधि है, भक्तिमार्ग में वह नहीं है। यदि च गौणीभक्ति क्रियासाध्या है एवं उपासनाकाण्ड के प्राणस्वरूप योग के द्वारा भक्ति की सहायता होती है, यद्यपि कर्म्मकाण्ड की क्रियाएँ और ज्ञानकाण्ड के तत्त्वविचारद्वारा परम्परारूप से भक्तिभाव का उद्रेक होता है; तथापि कर्म्मकाण्ड में योग में वा ज्ञानमार्ग में जिस प्रकार का साधनविधि का क्रम है, भक्तिमार्ग उस प्रकार का नहीं है। आनन्दकन्द भगवान् की कृपा प्राप्त भक्त अलौकिकभाव से विधिबन्धन को अतिक्रम करके आनन्दसागर में निमग्न होता है॥ ३९॥

अब भक्ति के विषय में आत्मानन्दपरायण महर्षियों का मतभेद वर्णन करते हैं—

भेदभाव के कारण कोई कोई भक्ति को ऐश्वर्य्यपदा कहते हैं॥ ४०॥

कोई कोई भक्त महर्षि भगवान् के साथ भिन्नता के

क्रमानुपपत्तिश्च॥ ३९॥
केचिदैश्वर्य्यपदां भेदात्॥ ४०॥

विचार से भक्ति को ऐश्वर्य्यपदा नाम से अभिहित करते हैं। इस मत के आचार्य्य भृगु, कश्यप, नारद प्रभृति महर्षिगण हैं। भक्ति की उन्नतदशा में तन्मयभाव प्राप्त होकर भी अनेक लोग भेदबुद्धि से भगवान् की उपासना करना और उससे आनन्द लाभ करना चाहते हैं। वे लोग उसी परमपुरुष के अलौकिक ऐश्वर्य्यों के ऊपर दृष्टिपात करते हुए तद्भाव में भावित होकर भगवान् के गुण वर्णन करते करते आनन्दसागर में निमग्न होते हैं। भगवान् की लीला के विचार से मुक्तिदशा में सांख्यविज्ञान के अनुसार दो अवस्था प्रतिभात होती हैं क्योंकि सांख्यज्ञान-भूमि में सिद्धिलाभ करनेवाले को परमपुरुष का साक्षात्कार प्राप्त करने पर भी प्रकृति के होने से व्यष्टिज्ञान नष्ट नहीं होता, इस कारण भेदभाव विद्यमान रहता है। इस प्रकार से भेदभाव को अवलम्बन करनेवाले पूर्णभक्त भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य्यों का वर्णन करते करते आनन्दसागर में निमग्न होते हैं। इसी का नाम ऐश्वर्य्यपदाभक्ति है ॥ ४० ॥

मतान्तर से—

दूसरे समता होने के कारण भक्ति को आत्मैकपरा कहते हैं ॥ ४१ ॥

कोई कोई महर्षि भक्ति को आत्मैकपरा कहते हैं क्योंकि उनकी शुद्धबुद्धि भेदभाव परित्याग करती हुई समता का

आत्मैकपरामपरे समत्वात् ॥ ४१ ॥

अवलम्बन करती है। इस मत के आचार्य्य वशिष्ठ, अङ्गिरा, वेदव्यास आदि महर्षि हैं। इनके मत में निर्विकल्प समाधि की दशा में जब पराभक्ति का लाभ होता है, तब भक्त अद्वैतभाव के उदय होने से अद्वितीय सच्चिदानन्द का साक्षात्कार लाभ करता हुआ आनन्दसागर में निमग्न होता है। इस समय भक्त के साथ भगवान् का भेदभाव नहीं रहता है। परमात्मा में एकपरताप्राप्ति होती है। इस कारण इसका नाम आत्मैकपराभक्ति है ॥ ४१ ॥

मतान्तर से—

कार्य्यकारण-विवेक होजानेके कारण दूसरे भक्ति को उभयपरा कहते हैं ॥ ४२ ॥

कोई कोई महर्षि कार्य्यकारण-विचार करते हुए भक्ति को उभयपरा कहते हैं। इस मत के आचार्य्य याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, शाण्डिल्य आदि महर्षि हैं। ये कार्य्यदशा में जब भेदभाव विद्यमान होता है तब ऐश्वर्य्यपदाभक्ति द्वारा एवं कारणदशा में जब भेदभाव विगलित होकर सच्चिदानन्द के साथ एकाकारिता प्राप्ति होती है तब आत्मैकपराभक्तिद्वारा परमानन्द का अनुभव करते हैं। कार्य्य एवं कारण के भेद के अनुसार उभयदशा में ही ये लोग

उभयपरामितरे कार्य्यकारणाभ्याम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहर्षिअङ्गिराकृतदैवीमीमांसादर्शने रसपादनामकः प्रथमः पादः समाप्तः।

आनन्दानुभव करते हैं इस कारण इस प्रकार रससागरमें निमग्न पराभक्तिपरायण भक्त की भक्ति को उभयपरा कहा गया है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहर्षि अङ्गिराकृत दैवीमीमांसा दर्शन के भाष्य के टीकोपम भाषानुवाद का रसपादनामक प्रथम पाद समाप्त ।

ॐ परमात्मने नमः ।

दैवीमीमांसादर्शन ।

उत्पत्तिपाद ।

श्रीभगवान् के प्रति अनुरागही उपासनातत्त्व का प्राणरूप है । इस प्रकार का अनुराग विषयों का विषमय होना अवलोकन करते हुए वैराग्यावलम्बन द्वाराही प्राप्त होता है इसी कारण संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का विज्ञान आवश्यक है अतः उत्पत्तिपाद प्रारम्भ किया जाता है जिसका प्रथम सूत्र इस भावको लिये हुए है:—

"मैं और मेरा" इस भाव के सदृश ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति अभिन्न है ॥ १ ॥

ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति अभिन्न है । "मैं और मेरी शक्ति" इस पर विचार करने से, जैसे मुझसे मेरी शक्ति की अभिन्नता प्रतिपादित होती है वैसेही ब्रह्म और उसकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति, इन दोनों की अभिन्नता शास्त्रों में प्रतिपादित हुई है । स्मृति में कहा है कि " वही पुरुषोत्तम भगवान् क्षोम्य और क्षोभक उभयरूपसेही प्रतिभात होते हैं एवं सङ्कोच और विकाश के द्वारा ब्रह्म और उनकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति (प्रधान) उभयरूप सेही विद्यमान

ब्रह्मशक्त्योरभेदोऽहं ममेतिवत् ॥ १ ॥

रहते हैं। यह प्रकृति कहीं इच्छारूप से, कहीं मायारूप से एवं कहीं शक्तिरूप से कही जाती है। यह शक्ति सदसदात्मिका है एवं चैतन्यरूप भगवान् इसके द्वाराही समस्त विश्वकी सृष्टि किया करते हैं" *। शक्तिमान् परम पुरुष के साथ शक्तिस्वरूपिणी इस प्रकृति का कोई भेद नहीं है जिस प्रकार अग्नि में दाहिका शक्ति निहित रहती है उसी प्रकार भगवान् में शक्तिरूपिणी प्रकृति निहित रहती है सृष्टि के पहले समष्टि जीवों के प्रारब्धानुसार ईश्वर में जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तबही इस शक्तिका विकाश होता है। इस कारण स्मृति में इसको इस प्रकार के भाव से कहा गया है कि "सृष्टि के समय में भगवान् योगशक्ति द्वारा द्विधारूप होकर दक्षिणांश में पुरुष और वामांश में प्रकृतिरूप होते हैं एवं इस प्रकृति के द्वाराही समस्त सृष्टिका विस्तार होता है। पवन और पवनके स्पन्दन के सदृश यह आद्याशक्ति और वे सर्व्वथा अभिन्न हैं" † ॥ १ ॥

* स एव क्षोभको ब्रह्मन्! क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥
केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं माया प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग! ययेदं निर्म्ममे विभुः॥

† योगेनाऽऽत्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमाँश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।

ब्रह्म और उनकी शक्ति से उत्पन्न सृष्टि का स्वरूप व-
र्णन किया जाता है:—

आध्यात्मिकी सृष्टि अनादि और अनन्त है॥२॥

आध्यात्मिक सृष्टि अनादि एवं अनन्त है। दृश्य और अनुभवगम्य सकल पदार्थही तीन प्रकार के होते हैं। इसी नियमके अनुसार सृष्टि भी आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक है। कारण ब्रह्म में तीन भाव विद्यमान होने से कार्य्य ब्रह्मरूप सृष्टि के सकल स्थानों मेंही ये तीन भाव विद्यमान हैं। एवं इसी कारण स्मृतिकारों ने कहा है कि 'वे परम पुरुष आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों रूपों सेही साधकोंके नयनगोचर होते हैं।

यथाऽऽत्मा च तथा शक्तिर्यथाऽग्नौ दाहिका स्थिता॥
तस्य चेच्छाऽस्म्यहं दैत्य! सृजामि सकलं जगत्।
स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याऽहं प्रकृतिः शिवा॥
या विद्येत्यभिधीयते श्रुतिपथे,
शक्तिः सदाऽऽद्यापरा।
सर्व्वज्ञा भवबन्धच्छित्तिनिपुणा,
सर्व्वाशये संस्थिता॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चाऽनुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥
यथैकं स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्ने न सत्तया॥
अनाद्यनन्ताऽऽध्यात्मिकी सृष्टिः॥ २॥

उनका आध्यात्मिकरूप निर्गुण मायातीत परब्रह्म, आधिदैविकरूप सगुणमय परमेश्वर एवं आधिभौतिकरूप अनादि अनन्त विराट् पुरुष है। भगवान् के स्थूल शरीर स्वरूप यह विराट् सृष्टिही आध्यात्मिका सृष्टिरूप से शास्त्रों में वर्णन कीगई है । उन्होंने माया के आश्रय से अपने वीर्य्य को त्रिधा विभक्त करके तीन प्रकारकी सृष्टिकी है*"। इनमें से आध्यात्मिकी सृष्टि आदि और अन्तरहित है। विराट् ब्रह्म का यह रूप बुद्धि से अतीत है। दशों दिशाओं में व्याप्यमान अनन्त अन्तरिक्ष की ओर दृष्टिपात करने से भावुक साधक का चित्तसिन्धु इस व्यापकता को अनुभव करके उद्वेलित होगा इसमें सन्देह नहीं । जगत् के जीवों का प्राणदाता सविता कितने सैकड़ों गृह उपगृह धूमकेतु चन्द्र और तारापुञ्जों से वेष्टित होकर निरन्तर इस ब्रह्माण्डवर्तुल के केन्द्ररूप से किस महासूर्य्य के चारों ओर भीषण वेष से सदैव घूर्णित होता है, और वह महासूर्य्य इस प्रकार के सैकड़ों ब्रह्माण्डों को लेकर किस महा-महासूर्य्य के चारों ओर निरन्तर भ्राम्यमाण है? इस चारों

---

* योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाऽधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ।'
अधिदैवमथाऽध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।
अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाऽभिद्यत तच्छृणु ॥

ओर परिव्याप्त अनादि अनन्त आकाश समुद्र में कितने करोड़ों ब्रह्माण्ड जल-बुद्बुद के समान शोभायमान हैं, इन सबका अन्त कहां है? अनन्त गगन के अनन्त उद्यान में ये जो विविधवर्णों की कुसुमराशि प्रस्फुटित होरही है इन सबकी संख्या कितनी है? कितने समय से प्रस्फुटित होती है और कितने समय तक वा इसप्रकार प्रस्फुटित हो होकर गगनोद्यान की शोभा बढ़ावेगी? यह मनुष्य-बुद्धि के अगोचर है इसमें सन्देह नहीं है। इस कारणही श्रुति ने जलदगम्भीरनाद से गाया है कि "इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर इसी प्रकार के अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड प्रज्व-लित हैं। चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख इत्यादि सहस्रमुख पर्य्यन्त असंख्य ब्रह्मा नारायण के अंश से सृष्टिकर्तारूप से, इसी प्रकारही असंख्य विष्णु नारायणके अंशसे स्थितिकर्ता-रूपसे एवं असंख्य रुद्र नारायणके अंश से प्रलयकर्तारूप से नियत नियतिचक्र परिभ्रामित करते हैं। इस प्रकार से, महासमुद्र में अनन्त मत्स्य और बुद्बुद के समान विराट् के गर्भ में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड शोभा पाते हैं"। इस प्रकार स्मृति में भी लिखा है कि "यद्यपि धूलिकण की संख्या होसक्ती है, तथापि विराट् के गर्भ में कितने ब्रह्माण्ड हैं इसकी संख्या हो नहीं सक्ती। इसीप्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि की भी संख्या हो नहीं सक्ती। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में पृथक् पृथक् भाव से ब्रह्मा विष्णु रुद्र विद्यमान हैं किन्तु महाविष्णु स्वरूप महेश्वर विराट्पुरुष और अद्वितीय है। आकाश में उड़ते

हुए अणुकण के सदृश महाकाश में इस प्रकार के करोड़ों ब्रह्माण्ड घूर्णित होते हैं। इस प्रकार की अनन्त ब्रह्माण्ड-मयी आध्यात्मिक सृष्टि अनादि और अनन्ता है"*॥२॥

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाऽष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकारकैरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवद्भ्रमन्ति।

तेजसा षोडशांशोऽयं कृष्णस्य परमात्मनः।
आधारः सर्व्वविश्वानां महाविष्णुश्च प्राकृतः॥
प्रत्येकं लोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च।
अद्याऽपि तेषां संख्याञ्च कृष्णो वक्तुं न हि क्षमः॥
संख्याचेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्माविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते॥
प्रतिविश्वेषु सन्त्येवं ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
पातालब्रह्मलोकान्तं ब्रह्माण्डं परिकीर्तितम्॥
नित्यौ गोलोकवैकुण्ठौ प्रोक्तौ शश्वदकृत्रिमौ।
प्रत्येकं लोमकूपेषु ब्रह्माण्डं परिनिश्चितम्॥
एषां संख्यां न जानाति कृष्णोऽन्यस्याऽपि का कथा।
प्रत्येकं प्रतिब्रह्माण्डं ब्रह्माविष्णुशिवादयः॥
"कोटिकोट्ययुतानीशे! चाऽण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥
असंख्यातारश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः"।
"ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्डुको यथा"।

कार्य्य और कारण एक रूप होने से:—

प्रकृति भी उसी प्रकार की है ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक सृष्टि के अनादि अनन्त होने से प्रकृति भी अनादि और अनन्त है और ब्रह्मसत्ता भी अनादि अनन्त है। प्रकृति ब्रह्म-शक्तिस्वरूपिणी है इस कारण प्रकृति का अनादि अनन्त होना स्वतःसिद्ध है। इसके उपरान्त आध्यात्मिक सृष्टि के अनादि अनन्त होने से जिस महाप्रकृति के गर्भ में आध्यात्मिक सृष्टि विराजमान है, वो अनादि अनन्त होगी इसमें सन्देह नहीं। इस कारण ही श्रुति स्मृति में वर्णन देखा जाता है कि "प्रकृति और पुरुष दोनोंही अनादि हैं" "सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी प्रकृति माता सबकीही आदि है इस कारण शुद्ध अनादि है" "नित्या अजा प्रकृति माता विकारजननी है, लाल सफ़ेद व काले वर्णवाली है अर्थात् रजसत्त्वतमोमयी एवं अष्टरूपा है इत्यादि" ❀। यही, कार्य्य-कारण-विचार के अनुसार प्रकृति की अनादि और अनन्त सत्ता का प्रमापक है ॥ ३ ॥

प्रकृतेस्तथात्वम् ॥ ३ ॥

❀ "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि"।

"त्वं सर्व्वाऽऽदिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका" ॥

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"।

"विकारजननीं मायामष्टरूपामजां ध्रुवाम्।"

अब आधिदैविक और आधिभौतिक सृष्टि का वर्णन किया जाता है:—

आधिदैविक एवं आधिभौतिक सृष्टि सादि और सान्त है ॥ ४ ॥

आधिदैविक सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड सृष्टि एवं आधिभौतिक सृष्टि अर्थात पिण्ड सृष्टि ये दोनों ही सादि और सान्त हैं। एक व्यष्टि जीवों की सृष्टि है और दूसरी असंख्य व्यष्टि जीवों के समष्टि स्वरूप एक सौर्य्य जगत् की सृष्टि है इन कोही पिण्ड सृष्टि और ब्रह्माण्ड सृष्टि कहा जाता है। जिस प्रकार जीवसृष्टि का आदि और अन्त है; उसी प्रकार ब्रह्माण्डसृष्टि का भी आदि और अन्त है । श्रुति में कहा है कि आकाश पृथिवी अन्तरिक्ष ये सबही पूर्वकल्प के अनुसार भगवान् उत्पन्न करते हैं। * प्रत्येक ब्रह्माण्ड के पृथक् पृथक् ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर हैं, उनका कार्य्य विभाग स्वतन्त्र स्वतन्त्र है और उसीके अनुसार भिन्न भिन्न ब्रह्माण्डों का सृष्टि स्थिति और प्रलय का क्रम भी भिन्न भिन्न है। श्रुति में कहा है कि परमात्मा के तपस्या द्वारा मिथुनीभाव प्राप्त होने पर प्रथम अन्न अर्थात् अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न होती है, पश्चात् क्रमशः महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, तन्मात्रा आदि की उत्पत्ति होकर स्थूल

आधिदैविकाऽऽधिभौतिकसृष्टिः साऽऽदि साऽन्ता ॥ ४ ॥

* यथा पूर्व्वमकल्पयद्दिवञ्च पृथिवीञ्चाऽन्तारिक्षम् ।

सूक्ष्म ब्रह्माण्डपिण्ड की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार ऊर्णनाभ स्वेच्छापूर्व्वक तन्तुनिस्सारण करता हुआ अपना वासस्थान निर्माण करता है; उसी प्रकार परमपिता परमेश्वर अपने लीलास्थलस्वरूप इस ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। आत्मा माया की सहायता से बहुरूप धारण करके जीव-जगत् का विस्तार करता है। * यही पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सादित्व का प्रमापक है। इसी प्रकार जीव और जीव-समष्टिरूप एक एक ब्रह्माण्ड का अन्त भी है। स्थूल शरीर का जरा रोग एवं मृत्यु जिस प्रकार स्वतः सिद्ध है; उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का भी ब्रह्मदिवावसान में खण्डप्रलय एवं ब्रह्मायु के अवसान में महाप्रलय हुआ करता है। श्रुति में लिखा है कि उन अक्षय पुरुष से अग्नि से स्फुलिङ्गों के सदृश अनेक जीवों का प्रकाश होकर पुनः वे उनमेंही विलय होजाते हैं। † इसी प्रकार स्मृति में भी लिखा है कि चतुर्युग के सहस्रवार अतिक्रान्त होने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस दिन के अवसान में ब्रह्मा की रात्रि

---

* तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चाऽमृतम्॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्तो ह्यस्य हरयः शता दश॥

† तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः,
प्रजायन्ते यत्र चैवाऽपियन्ति।

में खण्डप्रलय होता है । अर्थात् जिस प्राणशक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड की प्राणनक्रिया निष्पन्न होती है, ब्रह्मा की रात्रि में उन समष्टि प्राणरूप ब्रह्मा के निद्रित होने पर समस्त ब्रह्माण्ड में तमोगुण की घोरघटा आच्छन्न होजाती है एवं समस्त ब्रह्माण्ड कार्य्यकारिता शून्य होकर जलप्लावन, सङ्कर्षणाग्निदाहन आदि किसी भी क्रिया द्वारा आप्लुत होकर सुषुप्ति दशा प्राप्त और निश्चल होजाता है । इसीका नाम खण्डप्रलय है । इस प्रकार ब्रह्मा की रात्रि और दिन के क्रम से सौ वर्ष की आयु अतिक्रान्त होने पर महाप्रलय अथवा प्राकृतिक प्रलय हुआ करता है । उस समय ब्रह्मा के ब्रह्ममें लीन होने से समस्त ब्रह्माण्ड महाप्रलय में विलीन होजाता है । ब्रह्माण्डगत जीवों के स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं ब्रह्माण्ड के अवयव सर्वथा नष्ट होजाते हैं । * यही आधिदैविक एवं आधिभौतिक सृष्टि के सादित्व और सान्तत्व होने का प्रमाण है ॥ ४ ॥

---

* त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तत यन्निमीलति विश्वसृक् ॥
तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनाऽनुगताऽशेष आस्ते तूष्णीं दिनाऽत्यये ॥
तमेवाऽन्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाऽग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥

सृष्टि विभाग के वर्णन करने के प्रसङ्ग में ब्रह्माण्डोत्पत्तिका नश्वरत्व वर्णन किया जाता है:—

इसी कारण ब्रह्माण्ड और पिण्ड नश्वर हैं ॥ ५ ॥

इसीसे ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड का विनाशित्व सिद्ध होता है। ब्रह्माण्ड और जीव देह दोनों ही नश्वर हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वैभव-स्वरूप ब्रह्माण्ड-देह त्रिगुण के पृथक् पृथक् विलास के अनुसार सृष्टि स्थिति और प्रलय के अधीन होता है। स्मृति में वर्णन है कि श्रीभगवान् माया के साथ संयुक्त होकर रजोगुण के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि, सत्त्वगुण के द्वारा पालन एवं तमोगुण के द्वारा लय

तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्म्मयः ॥
चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्द्दश विशाम्पते! ॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥
द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥
एषः प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोशस्य संघातो विघात उपसादिते ॥
ततो ब्रह्माण्डपिण्डे नश्वरे ॥ ५ ॥

साधन करते रहते हैं । * परन्तु जिस प्रकार एक मनुष्य की मृत्यु होने पर जगत् मनुष्यशून्य नहीं होता है; उसी प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से परिशोभित विराट् पुरुष के देह से एक ब्रह्माण्ड के काल-प्रभाव के कारण कुछ समय के लिये च्युत होने पर भी अन्यान्य ब्रह्माण्डों की स्थिति वैसीही रहती है एवं भगवान् की अनादि अनन्त विराट् सत्ता का व्यत्यय नहीं होता है । इसी प्रकार योग-दर्शन में भी लिखा है कि प्रकृति का वैभव कृतार्थ और मुक्त पुरुष के विचार में नष्ट होने पर भी बद्ध पुरुष की दृष्टि में पूर्णभाव से विद्यमान रहता है । † स्मृति में लिखा है कि भगवान् कल्पान्तमें अखिल ब्रह्माण्डको अपने जठर में ग्रहण करके अनन्तशय्या पर शयन करते हैं । ‡ औरभी लिखाहै कि प्रकृतिमाता सदसत् स्वरूप अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करके अपने गुण से उसका परिपालन करती हुई कल्पान्त में महाप्रलय के समय सबका नाश करके

---

* यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो,
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया ।
स त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः,
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥

† कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।

‡ कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।

एकाकिनी अव्यक्तरूप से विराजमान रहती है। * इस प्रकार ब्रह्माण्ड सृष्टि स्थिति और प्रलय के अधीन होने के कारण सादि और सान्त होने पर भी प्रवाहरूप से इसका अनादित्व और अनन्तत्व सिद्ध होता है। अर्थात् इस प्रकार सृष्टि स्थिति और प्रलय की धारा अनादि काल से चली आती है एवं अनन्त काल पर्य्यन्त चलेगी। द्वितीयतः ब्रह्माण्डदेह के अनुसार पिण्ड अर्थात् जीव देह भी नश्वर है। जीव संसार में उत्पन्न होकर अपने किये हुए कर्म्मों का भोग करता हुआ निधन को प्राप्त होता है। स्मृति में स्पष्टरूप से लिखा है कि जो कुछ स्थावर जङ्गम जीव संसार में परिदृष्ट होते हैं युगक्षय में सबही नष्ट होंगे। काल इस मोहमय ब्रह्माण्डकटाह में सूर्यरूप अग्नि, रात्रि दिवारूप इन्धन एवं मास और ऋतुरूप दर्वी (कड़छुल) के द्वारा जीवगण को नियमितरूप से पाक करता है। † यही जीव का नश्वरत्व है ॥ ५ ॥

---

* सृष्ट्वाऽखिलं जगदिदं सदसत्स्वरूपं,
शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम्।
संहृत्य कल्पसमये रमते तथैका,
तां सर्व्वभूतजननीं मनसा स्मरामि।

† यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्व्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे,
सूर्य्याऽग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्त्तुदर्व्वीपरिघट्टनेन,
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥

इसके पश्चात् जीवका स्वरूप वर्णन किया जाता है:—

चित् एवं जड की ग्रन्थि का नाम जीव है ॥ ६ ॥

जड और चित् की ग्रन्थि को जीव कहा जाता है। प्रकृति और पुरुष के शृङ्गार द्वारा उत्पन्न सृष्टिलीला में दो प्रवाह दिखाई देते हैं। एक ऊर्द्ध्वगामी चेतन प्रवाह और दूसरा अधोगामी जड प्रवाह। प्रकृति का चाञ्चल्य सृष्टिधारा का कारण होने से जब तक कोई वस्तु इस धारा में रहती है तब तक उसको इसी परिवर्त्तन नियम के अधीन रहना होता है। इस कारण चेतन और जड की इस प्रकार की उन्नत और अवनत गति स्वतः सिद्ध है इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि जीव अनन्तयोनियों में भ्रमण करता हुआ ऊर्द्ध्वगामिनी प्राकृतिक चेतनधारा को अवलम्बन करके क्रमशः उन्नति लाभ करते करते अन्त में उक्त उन्नति की पराकाष्ठाको प्राप्त होता है। और तदन्तर्गत जडांश अधोगामिनी प्रकृति धारा में पड़कर क्रमशः अवनति प्राप्त होते होते उसकी पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। चेतनधाराकी पराकाष्ठा ब्रह्म-धारा है जहां प्रकृति की पृथक् सत्ता सच्चिदानन्द सत्ता में विलीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार चेतन प्रवाह प्रकृति के रजस्तम राज्य को अतिक्रम करके सत्त्व राज्य में उपस्थित होता हुआ उन्नति की पराकाष्ठा में प्रकृति के त्रिगुणमय राज्य

चिज्जडग्रन्थिर्जीवः ॥ ६ ॥

को अतिक्रम करके व्यापक चेतन सत्ता में विलीन होता है। यथा :–जीवन्मुक्त महापुरुष का अन्तःकरण। उनके अन्तःकरण में चेतनसत्ता पूर्ण विकाश को प्राप्त होकर प्रकृति का अवच्छेद परित्याग करती हुई व्यापक चेतन में विलीन होती है। द्वितीयतः अधोगामिनी जड प्रकृति का जडदेह मृत्यु के पश्चात् देहारम्भक चेतनशक्ति के अभाव से क्रमशः नष्ट हो जाता है। जिस प्राणशक्ति द्वारा देहान्तर्गत परमाणु समूह ने एकत्रित होकर मूलशरीर का निर्माण किया था उसी प्राणशक्ति के अभाव होजाने से परमाणु समूह में आकर्षणात्मिका शक्ति नष्ट होकर विकर्षणात्मिका शक्ति का आविर्भाव होता है। उसीके अनुसार देहगत परमाणुसमूह परस्पर विच्छिन्न हो पड़ते हैं एवं इस जड प्रकृति की अधोगति अर्थात् तम की ओर गति होती है। प्रकृति परिणामिनी एवं चञ्चला है। इस कारण उल्लिखित चेतन प्रवाह क्रमोन्नत होकर सत्त्वराज्य को अतिक्रम करता हुआ त्रिगुणमयी प्रकृतिमाता की धारा से निस्तार पाकर यद्यपि परिणामशून्य और स्थिर होता है किन्तु जड प्रवाह नियत परिणामिनी प्रकृति के सदैव अन्तर्गत और अधीन होने से परिणामशून्य और स्थिर हो नहीं सक्ता है। उदाहरण स्थल पर ऐसा समझना चाहिये जड प्रकृति की अन्तिम सीमा प्रस्तरादि स्थावर पदार्थ है। यही प्रकृति में तमोगुण की पराकाष्ठा है ऐसा जानना चाहिये। जिस प्रकार समुद्र के तरङ्ग घात प्रति-

घात से तीर की ओर बढ़ते हुए जब तीर में आकर लगते हैं तब और आगे बढ़ने का स्थान न होने से पुनः समुद्र की ओर प्रत्यावृत्त होते हैं; उसी प्रकार प्रकृति का जो निम्नगामी प्रवाह क्रमशः निम्नता प्राप्त होते होते तमोगुण की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, वही प्रवाह आगे स्थान न पाकर पुनः तमोगुण से रजोगुण की ओर अर्थात् जड से चेतन की ओर नैसर्गिकरूप से अग्रसर होता है। इस समय तम से रज की ओर प्रत्यावृत्त उक्त प्राकृतिक प्रवाह की कुछ उन्नति होने से तमोगुण बहुल मलिनता के हटने पर स्वल्प स्वच्छता का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार सूर्य्यदेव के सर्व्वत्र किरणच्छटा का विस्तार करने पर भी मलिन दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है, परन्तु जिस समय ही उस दर्पण की मलिनता दूर की जाय उसी समय उसमें व्यापक सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसी प्रकार सर्व्वव्यापक आत्मा की चित् सत्ता की सर्व्वत्र समता होने पर भी तामसिक प्रवाह के मालिन्य के कारण उक्त सत्ता का विकाश हो नहीं सक्ता है। किन्तु जब परिवर्त्तनधारा के नियम के अनुसार प्राकृतिक प्रवाह तमोगुण की पराकाष्ठा से थोड़ा भी उन्नत और स्वच्छ होता है तभी उस स्वच्छ और सूक्ष्म प्रकृति के केन्द्र में व्यापक परमात्मा प्रतिबिम्बित होते हैं। यही चित् और जड की ग्रन्थि है एवं यह प्रतिबिम्ब ही संसार में जीवसंज्ञा को प्राप्त होता है। स्मृति में लिखा है कि अविद्या के सूक्ष्म राज्य में

आत्मा का जो प्रतिबिम्ब भासमान होता है वही सुख दुःखाश्रय जीव कहाजाता है * । यही अतिसूक्ष्म प्रकृति का अंश जहां आत्मा प्रतिबिम्बित होते हैं उसीको कारण शरीर कहाजाता है। पश्चात् प्रकृति के साथ इस प्रकार सम्बन्ध युक्त जीवात्मा की इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है एवं सूक्ष्म शरीरगत संस्कार-समूह के तीव्र वेग के अनुसार स्थूल शरीर उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार तीन शरीर और तद्गत भोगादि के द्वारा बद्ध जीव उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनि अतिक्रम करता हुआ मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है । इन सब योनियों का संख्याक्रम स्मृति में स्पष्टरूप से कहा है। यथाः— उद्भिज्ज योनि की संख्या बीस लाख, स्वेदज योनि की संख्या ग्यारह लाख, अण्डज योनि की संख्या उन्नीस लाख और जरायुजों में से पशुयोनि की संख्या चौंतीस लाख है। पश्चात् मनुष्ययोनि में कुत्सित योनि दो लाख हैं † । उसके अनन्तर उत्तमोत्तम मानवयोनि लाभ होती है । मनुष्येतर सकल जीवयोनि में एकमात्र प्राकृतिक

---

* अविद्यायान्तु यत्किञ्चित्प्रतिबिम्बं नगाधिप ।
तदेव जीवसंज्ञं स्यात्सर्व्वं दुःखाश्रयं पुनः ॥

† स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम् ।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम् ॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे ।
ततो हि मानुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम् ॥

संस्कार का आश्रय होने से ये सब योनियें क्रमोर्द्धगामी हैं एवं कुत्सित मनुष्ययोनियों में भी बुद्धि और अहङ्कार के विकाश की अल्पता होने से वे भी क्रमोर्द्धगामिनी हैं। इस कारण इन सब योनियों की संख्या ऋषिगण ने तत्तत्प्रवाह में संयम करके निर्णय की हैं; किन्तु उन्नत मानव-योनिमें जीव स्वाधीन होकर अपने अपने पृथक् संस्कार के अधीन होता है इससे क्रमोर्द्धगति प्राप्त न होकर कर्म्मानुसार कभी उन्नत और कभी अवनत, इस प्रकार विभिन्न विभिन्न गति को प्राप्त होता है। इस कारण मनुष्य-योनि की संख्या नहीं की जासक्ती। यही जीवभाव के विकाश और क्रमाभिव्यक्ति विज्ञान का सारभूत तत्त्व है॥६॥

जीव की मुक्ति कब होती है?—

उसके भेदन से दोनों की मुक्ति होती है॥ ७॥

चित् एवं जड़ की जिस ग्रन्थि के द्वारा जीव की उत्पत्ति होती है उस ग्रन्थि के विच्छिन्न हो जाने पर चित् एवं जड़ दोनों को ही मुक्तिलाभ होता है। उद्भिज्जयोनि से प्रारम्भ करके मनुष्ययोनि से अतिरिक्त अन्यान्य समस्त योनियों में जीव क्रमोर्द्धगति को बे रोकटोक प्राप्त होता है क्योंकि मनुष्ययोनि से अतिरिक्त अन्यान्य योनियों में बुद्धि के ऊपर जड़ता रहने से जीव स्वतन्त्र कार्य्यों के द्वारा स्वतन्त्र संस्कार अर्जन नहीं करसक्ता है। केवल

तच्छेदनादुभय मुक्तिः॥ ७॥

महामाया प्रकृति माता, अपने अङ्क में माता जैसे छोटे बालक को उन्नत करती है, उसी तरह जीवों को अपने प्राकृतिक संस्कारों के द्वारा क्रमशः उन्नत करती हैं। नदी में बहता हुआ लकड़ी का टुकड़ा जिस प्रकार स्रोत के वेग से उस स्रोत के अनुकूल अनायास समुद्र की ओर ले जाया जाता है; उसी प्रकार मनुष्ययोनि के अतिरिक्त योनियों के जीव प्रकृति के ऊर्द्धगामी प्रवाह को आश्रय करके उद्भिज्ज से स्वेदज, स्वेदज से अण्डज और अण्डज से जरायुज के अन्तर्गत निकृष्ट पशु और उत्कृष्ट पशुओं की विविध योनियों को प्राप्त होते हैं। उस समय जीवों की क्रमोन्नति प्रकृति माता के अधीन होने से सर्व्वथा बे रोकटोक होती है। परन्तु जीव के मनुष्ययोनि प्राप्त होते ही उसमें पञ्चकोषों का विकाश यथेष्ट होजाने से अहङ्कार और बुद्धि का प्रकाश होजाता है। उसके अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृति पर स्वामित्व लाभ करता हुआ प्रकृति माता की अधीनता त्याग करता है। इस कारण मनुष्ययोनिमें आकर पहले जो सब कार्य्यों में प्रकृति माताकाही दायित्व था वह फिर नहीं रहता है। मनुष्य अपने कार्य्यों का स्वयं ही दायी होता है।इस कारण मनुष्ययोनि मेंही धर्म्माऽधर्म्म का दायित्व प्राप्त होता है। केवल यही नहीं है, अधिकन्तु मनुष्ययोनि में कर्म्म करना अपने अधीन होने के कारण मनुष्य पुरुषार्थ द्वारा उन्नत होकर मुक्तिपद भी लाभ कर सक्ता है और मन्द पुरुषार्थ द्वारा अवनत होकर नीच

योनियों में भी गिर सक्ता है। इसी कारण मनुष्य जन्म का समस्त स्मृतिशास्त्रों में श्रेष्ठ जन्म कहकर प्रतिपादन किया गया है *। मनुष्ययोनि में इस प्रकार श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होने पर भी निज देह के स्वामी होजानेके कारण इन्द्रियों का अधिकार बढ़ जाने से इस योनिमें आकर जीव प्रायः ही उच्छृङ्खल हो पड़ता है एवं इसी कारण फिर उसका मनुष्ययोनि से निम्नयोनियों की ओर अवनत होना सम्भव होजाता है । जो प्राकृतिक ऊर्द्धगामी प्रवाह उद्भिज्ज से उसको उत्कृष्ट पशुपर्य्यन्तही नहीं मनुष्ययोनि पर्य्यन्त लाया था उसी प्रवाह को मनुष्य परित्याग करता है एवं इसप्रकार से प्रकृतिमाता की अधीनता त्याग करके स्वेच्छाचारी होजाने से पुनः उसकी विरुद्ध गति होने की सम्भावना होती है। इस समय धर्म्म मनुष्य का सहायक होकर विविध शास्त्रीय विधानरूप से उसकी विरुद्धगति से रक्षा करता हुआ क्रमोर्द्धगति के मार्गमें उसको चलाता है । प्रकृत्यनुकूल धर्म्मकी ही वर्णाश्रम विधि के द्वारा मनुष्य की उच्छृङ्खलगति नियमित होती है एवं मनुष्य

---

* मानुषेषु महाराज ! धर्म्माऽधर्म्मौ प्रवर्त्ततः ।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः ।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्व्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्म्मभिः शुभलक्षणैः ॥

क्रमशः उन्नतिलाभ करते करते आत्मा का तत्त्व जानकर संसार की वासनाओं को त्याग करता हुआ आत्माराम होने की चेष्टा करता है *। आनन्द जीव की जीवनिका शक्तिका और अखिल पुरुषार्थ का मूल मन्त्र है। इस कारण आनन्दप्रयासी जीव आनन्दकन्द सच्चिदानन्द के चरणकमलों का आश्रय करता हुआ एवं क्रमशः वैधी और रागात्मिका भक्ति की आनन्दप्रद उन्नत कक्षाओं को प्राप्त करता हुआ अन्त में भक्ति की परादशा में पदार्पण करके कृतकृत्य होता है। पराभक्ति के पद पर आरूढ़ जीवन्मुक्त महापुरुष ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा के साथ व्यापक परमात्मा का सादृश्य उपलब्ध करते हैं। उनकी आत्माका तब फिर जड़ के साथ बन्धन नहीं रहता है क्योंकि वासनाही त्रिविध शरीर के साथ आत्माका बन्धन होने का कारण है। पराभक्ति के द्वारा परमात्मा का स्वरूप अवगत होने पर श्रुति के वर्णनानुसार हृदय की ग्रन्थि भिन्न होती है, समस्त सन्देहजाल छिन्न विच्छिन्न होजाते हैं एवं समस्त कर्म्मों का क्षय होता है †। इस कारणही चित् की तब फिर जड़ के साथ ग्रन्थि नहीं रहती है। श्रुति और स्मृति में लिखा है कि जब हृदय की समस्त कामना

---

* उन्नतिं निखिला जीवा धर्म्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

† भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

विनष्ट होती हैं तब मर्त्य जीव अमृतत्व प्राप्त होता है। उनकी आत्मा प्रकृति से अतीत परब्रह्म में विलीन होजाने के कारण वे धर्माऽधर्म पाप पुण्य आदि द्वन्द्वभावों से विमुक्त होकर परम साम्यपद प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार स्रोतस्विनी नदी विविध देशों में प्रवाहित होती हुई अन्त में समुद्र में मिलती है तब फिर उसका पृथक् नामरूप नहीं रहता है; उसी प्रकार पराभक्ति को प्राप्त भक्त का चिदंश जो अब तक जड़के साथ ग्रन्थियुक्त होकर पृथक् भावापन्न था वह उस समय सर्वव्यापक सच्चिदानन्दसागर में विलीन हो जाने से नामरूप मय जड़के साथ उसकी फिर ग्रन्थि नहीं रहती है। उसके अंशकी प्रकृति महाप्रकृति में मिल जाती है एवं चित् सत्ता सच्चिदानन्दसागर में विलीन हो जाती है॥ ७॥ *

---

* यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
यदा सर्व्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय॥
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जीवों की सृष्टि के विज्ञान का प्रसङ्ग होने से कहते हैं:—

वे बीजदाता हैं और प्रकृति क्षेत्ररूपा है ॥ ८ ॥

सृष्टि विस्तार के लिये बीजदाता पिता ईश्वर हैं और क्षेत्रभूता जननी प्रकृति हैं। जिस प्रकार क्षेत्र में अंकुरोत्पत्ति के अर्थ बीजवपन किया जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिक्षेत्र में पुरुष के बीजरोपण द्वारा सृष्टि का विस्तार होता है। मनुष्यादि जीवजगत् में सृष्टिविस्तार के अर्थ जिस प्रकार माता के क्षेत्र में पिता के वीर्य्याधान की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार प्रकृति माता के क्षेत्र में परमपिता के वीर्य्याधान के द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपी विराट् सृष्टि का उद्भव होता है। श्रीभगवान् गीता में आज्ञा करते हैं कि प्रकृति योनिही उनके गर्भाधान का स्थान है। प्रकृति क्षेत्र में उनके गर्भाधान करने पर प्रकृति

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्व्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व्व एकी भवन्ति ॥
त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्ते
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाऽहमिति प्ररूढम् ॥
स बीजदाता प्रकृतिश्च क्षेत्रम् ॥ ८ ॥

के ही गर्भ से समस्त जीवों की सृष्टि होती है*। इस प्रकार का वर्णन श्रुति और स्मृतियों में भी देखा जाता है। यथाः—स्वशक्तिस्वरूपिणी गुणमयी अजा प्रकृति में नित्य सनातन भगवान् रेतः सञ्चार करते हैं। कालानुसार सृष्टिका समय उपस्थित होने पर उनके चित्त में सिसृक्षा की उत्पत्ति होती है। तब जगत्पिता शुभक्षण में प्रकृति माता के क्षेत्र में गर्भाधान सम्पादन करते हैं। उस गर्भ को प्रकृतिमाता एकसौ मन्वन्तर तक धारण करती हैं। स्मृति में वर्णन है कि इस प्रकार एक शत मन्वन्तर के पश्चात् प्रकृतिमाता विश्व के आधारस्वरूप सुवर्ण के समान आभावाले एक अण्ड को प्रसव करती हैं। यह अण्ड ही सकल जीवों का आधारस्वरूप ब्रह्माण्ड है †। संहिता में इसी विज्ञान कीही प्रतिध्वनिरूपसे कहा है कि परमेश्वर सृष्टि के समय अपने देह को द्विधा विभक्त करके आधा भाग पुरुषरूप होते हैं और आधाभाग नारीरूप होकर उस

---

* मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
तेषां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।

† कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधिमनसो
रेतः प्रथमं यदासीत्।
त्वं नः सुराणामपि सन्निधानात्
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।

नारीरूप के गर्भ में विराट्, विश्व की उत्पत्ति करते हैं। * इस दर्शन के विज्ञान के अनुसार प्रकृति को जो ब्रह्मशक्ति स्वरूपिणी कहा गया है वह उक्तसंहिता के द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होता है। इस प्रकार स्मृतिकारों ने भी स्पष्टरूप से वर्णन किया है कि परमात्मा सृष्टि के प्रथम योगके द्वारा दो रूप होकर दक्षिणार्द्ध से पुरुष और वामार्द्ध से नारी होते हैं। यही वामार्द्धस्वरूपिणी स्त्री ही प्रकृति माता हैं, वे नित्या हैं, सनातनी हैं एवं जिस प्रकार अग्निमें दाहिका-शक्ति रहती हैं उसी प्रकार वे भी पुरुष में पुरुष-शक्तिरूप से अवस्थान करती हैं। † इसी स्त्रीशक्ति व मातृशक्ति को वेद स्मृति एवं निरुक्त में कई स्थानों में संस्त्यानशक्ति और

त्वं देवशक्त्या गुणकर्म्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः ॥
ततः स च परिश्रान्तस्तस्या योनौ जगत्पिता।
चकार वीर्य्याऽऽधानञ्च नित्यानन्दे शुभक्षणे ॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतमन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा ॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाऽऽभं विश्वधाराऽऽलयं परम् ॥

* द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

† योगेनाऽऽत्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता ॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथाऽऽत्मा च तथा शक्तिर्यथाऽग्नौ दाहिका स्थिता ॥

कई स्थानों में अप् वा सलिल कहा गया है । जिस शक्ति द्वारा सूक्ष्मभाव में अवस्थित कारण-गर्भ में विलीन विश्व जगत् स्थूलभाव को प्राप्त होता है उसीका नाम अ है । यह विश्वकी संस्त्यानशक्ति है । महाभाष्यकार भी कहते हैं कि संस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है । निरुक्त में वर्णन है कि स्त्यायन वा संहनन अर्थात् संमिलन करने की शक्ति रहने से प्रकृतिशक्ति का नाम अप्शक्ति है क्योंकि अप् वा सलिल में ही यह मिलित करने की शक्ति विद्यमान है । सृष्टि के पहले कुछ भी नहीं था, केवल सलिल था । ऋग्वेद के इस वर्णन द्वारा उक्त भाव की ही प्रतिध्वनि की गई है । इस मन्त्र में सलिल शब्द का सल् गतौ धातु से औणादिक इलच् प्रत्यय करते हुए "सलिलं सर्व्वं मा इदम्" इसका अर्थ श्रीमत्सायनाचार्य्य ने इस प्रकार किया है कि "इदं" अर्थात् यह दृश्यमान समस्त जगत "सलिलं" अर्थात् कारण के साथ सङ्गत वा अविभागापन्न था । * यह महाप्रलय के समय की प्रकृति की अवस्था

---

* कंश्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे । ऋग्वेदसंहिता ।
संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान् । महाभाष्य ।
स्त्रिया आपो भवन्ति स्त्यायनात् । निरुक्त ।
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे
प्रकेतं सलिलं सर्व्वं मा इदम् । ऋग्वेदसंहिता ।
सलिलं सल्गतौ औणादिकः इलच्
इदं दृश्यमानं सर्व्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं
अविभागापन्नं आः आसीत् । सायनाचार्य्य ।

है। इस समय अव्याकृत महाप्रकृति के गर्भ में समस्त विश्व सूक्ष्मभाव से विलीन रहता है। ब्रह्माण्ड की उपादान-भूत समस्त शक्ति प्रच्छन्नभाव से प्रकृति के अङ्क में छिपी हुई रहती है एवं अनन्त कोटि जीवों के संस्कार महाकाश में विलीन रहते हैं। श्रुति में भी इसी प्रकार लिखा है कि प्रलयकाल में कुछ नहीं रहता है, सत् असत् कोई भी प्राकृतिक वस्तु नहीं रहती है, रज व्योम कुछ भी नहीं रहता है, केवल सर्व्वव्यापी तमःसञ्चार रहता है एवं "अम्भ" अर्थात सलिल रहता है। * इसी सलिल को कारणवारि कहकर स्मृति और पुराणों में वर्णन किया गया है। यही अनन्त जीवों की संस्कारराशिसंवलित अव्याकृत प्रकृति भावी विश्व की संस्त्यानशक्ति है। इसी अव्याकृत प्रकृति में ही भगवान् वीर्य्य प्रदान करते हैं। उसके अनुसार इस प्रकृति में ही प्रथम गर्भाधान होता है। यही स्मृति में वर्णित है कि वे गुणमयी प्रकृति के साथ लीला करके उसके गर्भ

* नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीम्
नाऽऽसीद्रजो नो व्योमपरो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ ऋग्वेदसंहिता।
आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृतो ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधिदेव आसीत्कस्मै देवाय हविषे विधेम॥
अथर्व्ववेदसंहिता।
आपो वत्सं जनयन्ती गर्भमग्रे समैरयन्। अथर्व्ववेदसंहिता।

से असंख्य प्रजा उत्पन्न करते हैं। उनके वीर्य्याधान द्वारा महत्तत्त्वादि क्रम से सृष्टि का विकाश हुआ है।* इसीको संहिता में अन्यभाव से कहा गया है कि सिसृक्षु परमेश्वर ने प्रथम "अप्" की सृष्टि करके उसमें अपना बीज अर्पण किया। वह अर्पित बीज सुवर्णवर्णोपम सूर्य्य के सदृश प्रभाविशिष्ट एक अण्डरूप में परिणत हुआ। इसी अण्ड में सर्व्वलोक पितामह ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर भगवान् ब्रह्मा ने अपने ध्यान के बल से इस अण्ड को द्विधा विभक्त करके ऊर्द्ध्वखण्ड में स्वर्गादिलोक और अधःखण्ड में पृथिव्यादि निर्म्माण किया एवं मध्यभाग में आकाश, अष्टदिक् और समुद्राख्य शाश्वत सलिलस्थान स्थापित किया। इस प्रकार भगवान्ने महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन और पञ्चतन्मात्रा एवं इन्द्रियादि की सृष्टि करके समस्त विश्व को प्रकट किया।† यही प्रकृतिक्षेत्र में परमपिता

* स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥
दैवात्क्षुभितधर्म्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्य्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

† सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।

के बीजदान का फल है। यहां बीज का अर्थ मनुष्यलोक का बीज नहीं है। जिस चेतनसत्ता के प्रभाव से जडा प्रकृति चेतनवती होकर सृष्टि स्थिति प्रलय करती है उसी चेतनसत्ता को बीजरूप से कहा गया है क्योंकि जड वस्तु में स्वयं कार्य्यकर्तृत्वशक्ति के न रहने से जडा प्रकृति के कार्य्य के लिये चेतनसत्ता की आवश्यकता हुआ करती है। यही श्रुतिस्मृतिकथित प्रकृतिक्षेत्र में परमात्मा का गर्भाधान है। इस विषय में स्मृति में और भी वर्णन है कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि के सान्निध्य से लोह में चाञ्चल्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार चेतन परमात्मा के संयोग द्वारा जडा प्रकृति में चेतना का समावेश हुआ करता है। * परन्तु इस चेतनवत्ता के लिये सांख्यदर्शन में

स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥
उद्ववर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाऽप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥
महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्व्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां गृहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥
तेषांस्त्ववयवान्सूक्ष्मान्यण्णामाप्यामितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्म्ममे ॥

* जडाऽहं तस्य संयोगात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा ॥

केवल पुरुष के सान्निध्यमात्र की ही आवश्यकता वर्णित हुई है। * स्मृतियों में भी कहा है कि सृष्टि के लिये पुरुष वा परमात्मा केवल निमित्तमात्र हैं, सृष्टि का सब कार्य्य प्रकृति के द्वारा ही सम्पादित होता है। जिस प्रकार लौकिक जगत् में बीज धारण करनेवाली होने से नारी का प्राधान्य है एवं बीजदाता पुरुष का अप्राधान्य सर्व्वशास्त्रों में सिद्ध हुआ है अथवा जिस प्रकार भूमि में बीज की अङ्कुरोत्पत्ति एवं वृक्ष और लताओं के पुष्टिवर्द्धन के अर्थ भूमि ही प्रधान कारणस्वरूप है; उसी प्रकार मूलसृष्टि में भी बीजदाता परमपिता परमेश्वर की निमित्तता एवं क्षेत्रस्वरूपिणी प्रकृति माता की प्रधानता सर्व्ववादिसम्मत है इसमें सन्देह नहीं है † ॥ ८ ॥

सृष्टि लीला का आदि कारण वर्णन किया जाता है:—

चित् व अचित् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥ ९ ॥

---

* तत्सान्निध्यादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।

† चैतन्यस्य समायोगान्निमित्तत्वञ्च कथ्यते ॥
निमित्तमात्रमेवासीत्सृज्यानां सर्गकर्म्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥
यतो बीजाङ्कुरोत्पत्तौ तरूणां पुष्टिवर्द्धने ।
कारणं केवला भूमिर्नाऽन्यदस्तीह कारणम् ॥
अतो जगति नाऽत्राऽस्ति मातुर्गुरुतरो जनः ।
प्राधान्यं प्रकृते सिद्धं सृष्टिकार्य्यप्रसारणे ॥
चिदचितोर्नाऽन्यत् ॥ ९ ॥

ब्रह्म और प्रकृति के अतिरिक्त अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती है । सृष्टि के वैभवविस्तार के अर्थ ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिभूता प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ भी अपेक्षित नहीं होता है। चित्प्रधान पुरुष और सत्प्रधान प्रकृति परस्पर सम्मिलित होकर चराचर जगत् की उत्पत्ति किया करते हैं। विराट् की अनन्तता के मूल में यही प्रधानकारणीभूत प्रकृतिपुरुष ही विद्यमान हैं। इसी कारण ही उपनिषदों में वर्णन है कि प्रकृति,अघटनघटनापटीयसी माया और उसी माया में अधिष्ठित चैतन्य,महेश्वर ये दोनों ही सृष्टि के मूल में विद्यमान हैं। * स्मृति में कहा गया है कि शक्ति अद्वितीया है और शिव भी अद्वितीय हैं। जगत् में जो कुछ स्थावरजङ्गमात्मक जीव हैं वे सब क्षेत्ररूपा जननी प्रकृति एवं क्षेत्रज्ञरूप परमपिता परमेश्वर के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। † चित् अर्थात् पुरुष एवं अचित् अर्थात् प्रकृति इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय वस्तु सृष्टि के मूल में नहीं है ॥ ६ ॥

सृष्टि के पहले इन दोनों सत्ताओं की एकता प्रतिपादित की जाती है :—

---

* मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।
तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

† एका शक्तिः शिवैकोऽपि ।
यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥

वियुक्ति के पहले दोनों ही युक्त रहते हैं ॥ १० ॥

परिदृश्यमान सृष्टि के विकाश के पहले ब्रह्म और तच्छक्तिस्वरूपिणी प्रकृति, दोनों ही अद्वितीय सच्चिदानन्द-भाव में अवस्थित रहते हैं। जिस प्रकार किसी शक्तिमान् मनुष्य के शरीर में शक्ति के आविर्भाव से पहले, अरणि काष्ठ में स्थित अग्नि के समान वह शक्ति शरीर में ही अन्तर्हित रहती है; उसी प्रकार ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी प्रकृति माता सृष्टिविलास के विस्तार से पहले परमपुरुष में लीन होकर रहती है। उस समय उसके गुणों में वैषम्य न रहने से वह अव्याकृतभाव से सच्चिदानन्दसत्ता में निमग्न रहती है। इसी भाव की प्रतिध्वनिरूप से ऋग्वेद में वर्णन किया गया है कि प्रलय के समय सत् असत् कुछ भी नहीं रहता है, आकाशादि पञ्चभूतों का अस्तित्व भी नहीं रहता है, मृत्यु अथवा अमरत्व कुछ भी नहीं रहता है। केवल अव्याकृत प्रकृति के गर्भ में स्थित महाकाश में विलीन संस्कारसमूह और उन संस्कार समूह के उद्बोधक अद्वितीय चैतन्यमय परमात्मा रहते हैं। परमात्मा ही पुनर्वार सृष्टि के प्रारम्भ में एक से बहु होने की कामना करके प्रलयविलीन जीवों के संस्कारों के अनुसार उनको पूर्व्वानुरूप कल्पसृष्टि के प्रकाश में लाते हैं।*

प्राग्वियुक्तेर्युक्तौ ॥ १० ॥

* नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नाऽऽसीद्रजो नो व्योम परो यत् ॥

विमुक्ति के पहले एकभाव से विद्यमान परमात्मा ही अपने देह को दो भाग में विभक्त करके प्रकृति माता का विकाश करते हैं और उन्हींके गर्भ में विराट् विश्व की उत्पत्ति करते हैं सुतरां सिद्धान्त यह है कि सृष्टि से पूर्व्व प्रकृति अव्यक्तावस्था में रहकर पुरुष में ही लय होकर रहती है॥ यही अद्वैत दशा का अनुभव है॥ १०॥

मतविशेष का निराकरण किया जाता है:—

शक्तिसम्भूत होने से मिथ्या नहीं है॥ ११॥

शक्ति से उत्पन्न होने के कारण जगत् मिथ्या नहीं है। वेदान्तादि दर्शनशास्त्रों में अपनी अपनी ज्ञानभूमि के तारतम्यानुसार जगत् को मिथ्या कहा गया है परन्तु इस दर्शन में प्रकृति के नित्य होने के कारण से उससे उत्पन्न जगत् सत्य

किमावरीवः कुहकस्य शर्म्म-
अम्भः किमासीदगहन गभीरम्।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
आसीदवातं स्वधया तदेकं
तस्मादन्यान्न परः किञ्चिनास।
कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधि-
मनसोरेतः प्रथमं यदाऽऽसीत्॥
सतो बन्धुमसति निरविन्दन
हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा।
नाऽनृतत्वं शाक्तित्वात्॥ ११॥

है यही विज्ञान प्रतिपादित हुआ है। ज्ञान की जिस भूमि में साधक प्रकृति से अतीत परब्रह्म का साक्षात्कार करता है वहां प्रकृतिविलास के दृष्टिगोचर न होने से उक्त भूमि के दर्शन में अवश्यही जगत् का मिथ्या कहकर वर्णन होगा। वेदान्तादि शास्त्र इसी भूमि के दर्शन हैं। परन्तु जिस भूमि में परमात्मा के साक्षात्कार होने पर भी प्रकृति के विलास का दर्शन अव्याहृत रहता है उस भूमि के दर्शन में प्रकृति नित्या है और तत्सम्भूत जगत् भी नित्य एवं सत्य है यह वर्णित होगा इसमें सन्देह नहीं। इस कारण ही इस दर्शन में सत्यस्वरूप ब्रह्म की शक्ति से उत्पन्न सत्यस्वरूपिणी प्रकृति माता के लीला वैभवरूपी जगत् को सत्य कहा गया है। स्मृति में भी कहा है कि सत्य से ही भूतगण की उत्पत्ति है एवं भूतमय जगत् सत्य है। पृथिवी, आकाश, पर्वत, विश्व संसार एवं देवतागण के ध्रुवत्व में कोई भी सन्देह नहीं है॥ ११॥ *

मतान्तर का निराकरण किया जाता है:—

ब्रह्म और ईश्वर एक ही हैं, केवल प्रकृति के वैभव के कारण पार्थक्य हुआ करता है॥ १२॥

---

* सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्।
ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विचामयम्॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं ते इन्द्राग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥
ब्रह्मेशयोरैक्यं पार्थक्यन्तु प्रकृतिवैभवात्॥ १२॥

ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं, जो कुछ पार्थक्य प्रतीति होती है वह माया के सम्बंन्ध के कारण ही होती है। वेदान्तादि शास्त्रों में अपनी ज्ञानभूमि के पुष्टिसाधन के अर्थ ईश्वर को सोपाधिक कहकर ब्रह्मपद से नीचे की स्थिति प्रदान की गई है। इस विषय की उक्ति स्मृति आदि शास्त्रों में पाई जाती है कि सत्त्वप्रधाना प्रकृति वा माया एवं तमः-प्रधाना प्रकृति वा अविद्या, इन दोनों के साथ ईश्वर और जीव का सम्बन्ध है। इनमें से जो मायोपहित चैतन्य है वही ईश्वर और जो अविद्योपहित चैतन्य है वह जीव है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार ईश्वर और जीव की सत्ता प्रतिपादित करके ब्रह्म को इन सब उपाधियों से पृथक् एवं ईश्वर की अपेक्षा उच्च कक्षास्थित कहकर वर्णन किया है। ईश्वर मायावी हैं वे मायोपाधिद्वारा युक्त होकर सृष्टि के समय एक से बहुरूप धारण करने की इच्छा करके हिरण्यगर्भादि भाव प्राप्त होते हैं एवं वे माया को आश्रय करके पुरुरूप वा बहुरूप धारण करते हैं। * इस प्रकार से अनेक

* चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिविम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्व्वज्ञ ईश्वरः॥
मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः॥
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्य्यस्य विचारणात्।

प्रमाण वेदान्तशास्त्र में पाये जाते हैं । सांख्यदर्शन में जो अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान का लक्षण निर्णीत हुआ है उस लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं होसकी है इसीसे "ईश्वर की अलौकिक प्रत्यक्ष से सिद्धि होने पर भी अपनी भूमि में उसकी सिद्धि नहीं होती है" यह विज्ञान सांख्यदर्शन के अन्तर्गत "ईश्वराऽसिद्धेः" इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित होकर अपनी भूमि में ईश्वर की असिद्धि प्रकल्पित हुई है। परन्तु इस दर्शन में "ब्रह्म और ईश्वर की एकता सिद्ध होकर केवल प्रकृति सम्बन्ध ही भेदभ्रान्ति का हेतुभूत है" इस प्रकार प्रमाणित हुआ है। सत्यप्रदर्शिनी श्रुति ने इन दोनों भावों को एकाधार में वर्णन करने के अर्थ सच्चिदानन्द सत्ता के साथ अनन्त महासमुद्र की तुलना की है। वायु के संयोग से समुद्र के उपरिभाग में उत्ताल तरङ्गमाला का लीला विस्तार होने पर भी तलदेश में

असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तञ्चेत्युपक्रम्योपसंहृतः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥
मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥
आनन्दमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥

प्रशान्त पयोनिधि विद्यमान रहता है। श्रुति ने तत्तदेश के प्रशान्त जल के साथ ब्रह्म की एवं उपरिभाग के तरङ्गायित जल के साथ ईश्वर की तुलना की है। जल के विचार से अधोभाग का और ऊर्ध्वभाग का जल अभिन्न ही हैं; उसी प्रकार ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न है। भिन्नता केवल, वायुसंयोग से तरङ्गों की भिन्नता के सदृश माया के संयोग से सृष्टिवैभवविलास के द्वारा होती है। ब्रह्मभाव के साथ माया का सम्बन्ध नहीं रहने से वे सृष्टि से अतीत हैं किन्तु ईश्वरभाव के साथ माया का सम्बन्ध होने से इस भाव में सिसृक्षा और सृष्टिविलास हुआ करता है। इस प्रकार ब्रह्मभाव के साथ ईश्वरभाव का पार्थक्य प्रतीत होता है। श्रुतिने इन दोनों भावों को और भी कुछ स्पष्ट दिखाने के अर्थ कहा है कि आत्मा चतुष्पाद हैं उनके एक पाद में सर्व्वभूतमय विराट् सृष्टि विकसित है परन्तु अन्य तीन पाद अमृत हैं अर्थात् सृष्टि से अतीत हैं। * श्रीभगवान् ने गीता में भी इसी भाव की ही प्रतिध्वनि रूप से कहा है कि मैं मेरे एक अंश से समस्त विश्व में व्याप्त होकर स्थित हूं। † यह एक अंश ईश्वर हैं एवं अन्य तीन अंश ब्रह्म हैं। ब्रह्मभाव के साथ सृष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं है इसी कारण ब्रह्मभावप्रति-

* सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्व्वभूतानि
त्रिपादस्याऽमृत दिवि ॥

† विष्टभ्याऽहमिदं सर्व्वमेकांशेन स्थितो जगत्।

पादक मन्त्र क्लीबलिङ्ग हैं एवं ईश्वरभाव के साथ माया का सम्बन्ध है इसी कारण इस भाव की प्रतिपादक श्रुतियां प्रायः ही पुँल्लिङ्ग होती हैं । ईशोपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म शुद्ध एवं अकाय अर्थात् सूक्ष्मशरीररहित हैं, ब्रह्म अव्रण एवं अस्नायु अर्थात् स्थूलशरीररहित हैं और ब्रह्म शुद्ध एवं अपापविद्ध अर्थात् कारणशरीररहित हैं । इस प्रकार समष्टिभाव से प्रकृति के तीनों शरीरों के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध न रहने से मायासम्बन्ध शून्य ब्रह्मभाव के प्रतिपादक शुद्ध, अकाय, अव्रण, अस्नाविर आदि सब विशेषण ही क्लीबलिङ्ग कहे गये हैं। दूसरी ओर इसी मन्त्र की द्वितीय पंक्ति में कवि अर्थात क्रान्तदर्शी, मनीषी, स्वयम्भू आदि विशेषणों के ईश्वरभावद्योतक होने से इन सबको पुँल्लिङ्ग कहागया है । * इस प्रकार एक ही मन्त्रमें इस श्रुति ने दोनों भावों का चित्र अच्छा दिखाया है। भावद्वय तात्त्विक रीति से एक होने पर भी प्रकृतिवैभव के सम्बन्ध से वा उस सम्बन्ध के अभाव होने से द्विधा प्रतीत होते हैं। इसी कारण स्मृतिकार ने लिखा है कि समस्त वस्तुओं की नियमनकारिणी जो ईश्वरीय शक्ति है

* सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

उसके संयोग से ब्रह्म ही ईश्वरता प्राप्त होते हैं। * ब्रह्म-भाव के पृथक् दर्शन के प्रसङ्ग में श्रुति ने कहा है कि वे चक्षु, वाक् और मनसे अतीत हैं एवं आनन्दस्वरूप हैं, वे इन्द्रियातीत हस्तपादादिरहित विभु सर्व्वगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यय एवं भूतयोनि हैं। धीर योगी अलौकिक ज्ञाननेत्रद्वारा उनके दर्शन करते रहते हैं। † सर्व्वथा प्रकृति से अतीत अवाङ्मनसगोचर परब्रह्म के वास्तविक तत्त्व के विषय में श्रुति ने और भी कहा है कि ब्रह्म अन्तःप्रज्ञ नहीं हैं, बहिःप्रज्ञ नहीं हैं, उभयतःप्रज्ञ नहीं हैं, ब्रह्म प्रज्ञानघन प्रज्ञ वा अप्रज्ञ नहीं हैं, वे व्यवहार से अतीत हैं, गुण लक्षण और चिन्ता से अतीत हैं, निर्द्देशातीत हैं, आत्मप्रत्ययमात्रसिद्ध, प्रपञ्चातीत, शान्त, शिव, अद्वैत एवं तुरीयपदवाच्य हैं ‡ ब्रह्म के इस भाव के साथही निर्म्मल

---

* शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्व्ववस्तुनियामिका।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥

† न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति न मनः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कदाचन॥
यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्र
तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

‡ नाऽन्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञं।

आकाश की तुलना कीगई है। श्रुति में लिखा है कि ब्रह्म आकाशके समान सर्व्वव्यापी नित्य और अविनाशी हैं।* परन्तु ईश्वरभाव के वर्णन के समय श्रुति ने माया का सम्बन्ध दिया है। यथाः—प्रकृति माया है एवं ईश्वर मायी हैं, चराचर भूतमय जगत् उनके ही अवयवस्वरूप हैं † ऐत्तरेय श्रुति में कहा है कि सृष्टि के प्रथम वे (ईश्वर) प्रकृति के ऊपर दृष्टिपात करते हैं। उनके ईक्षण से ही प्रकृतिमाता शक्तिमती होकर चराचर विश्व की सृष्टि करती रहती हैं। ‡ और भी मुण्डकादि उपनिषदों में कहा है कि उनसेही सकल भूतों की उत्पत्ति होती है, उनकी सत्ता के प्रभाव से ही सकल भूतों की स्थिति होती है एवं

अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षण-
मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं
चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः॥

* आकाशवत्सर्व्वगतश्च नित्यः अविनाशी आत्मा।
आकाशवत्सर्व्वगतश्च नित्यः स वा एष अज आत्मा॥

† मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्याऽवयवभूतैश्च व्याप्तं सर्व्वमिदं जगत्॥

‡ स ईक्षते मे नु लोकाः लोकपालान्नुसृजा इति।
सोऽद्भ्यः एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्॥
स ईक्षते मे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मेभ्यः सृजा इति।

उनमें ही सकल भूतों का विलय हुआ करता है। * उनके हाथ नहीं हैं तथापि वे ग्रहण करसके हैं, उनके चरण नहीं हैं तथापि गमन करसके हैं, उनके चक्षु नहीं हैं तथापि दर्शन करसके हैं, उनके कर्ण नहीं हैं तथापि श्रवण करसके हैं, वे सर्व्वज्ञ हैं परन्तु उनका ज्ञाता कोई नहीं है, वे महान् हैं एवं परमपुरुष हैं। † ब्रह्म का यह ईश्वरभाव मायासंयुक्त होनेपर भी माया के अधीन नहीं है। स्मृतिकारों ने भी इन दोनों भावों को स्पष्टरूप से वर्णन किया है। स्मृतिकारों ने परब्रह्म को परमात्मा के अध्यात्मभावरूप से वर्णन करके कहा है कि परब्रह्म मन और वाणी से अगोचर, सर्व्वकारण, अनादि, अनन्त, अज, दिव्य, अजर, ध्रुव, अव्यय, अप्रत्यक्ष एवं अविज्ञेय हैं। ‡ उनके जिस भाव में उनकी इच्छारूपिणी महामाया संयुक्ता होकर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूप विराट् का आवि-

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

† अपाणिपादो यवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

‡ यत्तद्ब्रह्म मनो वाचामगोचरमितीरितम्।
तत्सर्व्वकारणं विद्धि सर्व्वाध्यात्मिकमित्यपि॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।

भाव करती है उसी अधिदैवभाव का नाम ईश्वर है। वे सर्व्वज्ञ, सद्‌गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, करुणासिन्धु, अनन्त सद्‌गुणाधार एवं महान् हैं। *इस प्रकार इस मध्य मीमांसा-दर्शन में ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव की एकता दिखातेहुए मायाविलास-विभेद के अनुसार उक्त भावों का पार्थक्य निर्दिष्ट हुआ है॥ १२॥

उपासना की दृढ़ता सम्पादन के अर्थ ब्रह्म और प्रकृति की प्रधान विभूतियों का वर्णन कियाजाता है:—

विभूति होने के कारण पिता, काल एवं महाकाल सेवनीय हैं॥ १३॥

स्थूलशरीरदाता पिता, काल एवं महाकाल ये तीनों ही परमेश्वर की त्रिभावात्मक विभूति हैं अतः सेवनीय हैं। श्रीभगवान् की आधिभौतिक विभूति जन्मदाता पिता, आधिदैविक विभूति काल एवं आध्यात्मिक विभूति महाकाल है। भौतिक जगत् में पिता के भगवद्‌विभूतिस्वरूप होने से पिता सकल शास्त्रों में परम पूजनीय कहकर

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्त्तते॥

* स्वेच्छा मायाख्यया यत्तज्जगज्जन्मादिकारणम्।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमाधिदैवमिति स्मृतम्॥
सर्व्वज्ञः सद्‌गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्य्यामी कृपानिधिः।
सर्व्वसद्‌गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान्॥
विभूतित्वात्सेव्याः पितृकालमहाकालाः॥ १३॥

वर्णित हुए हैं। पिता प्रजापतिकी मूर्त्ति हैं इस कारण उनकी पूजा से प्रजापति प्रसन्न होते हैं। स्मृतिकारगण ने और भी कहा है कि जो जितेन्द्रिय होकर पिता माता की सेवा करता रहता है उसको स्वर्ग प्राप्ति होती है। पिता पूज्यता के विचारसे दश उपाध्यायों के समान होते हैं एवं उनकी शुश्रूषा के द्वारा आयु विद्या यश और बल-प्राप्ति होती है। * इसी कारणही श्रुति ने आज्ञा की है कि देवकार्य और पितृकार्य में प्रमाद करना उचित नहीं है। शरीर मन और वचन से पिता की सेवा करना उचित है। पिता की शुश्रूषा से सब यज्ञों का फल प्राप्त हुआ करता है। † काल और महाकाल का विषय शास्त्रों में इस प्रकार प्रकट हुआ है कि ब्रह्माण्ड-प्रकृति द्वारा काल परिच्छिन्न है परन्तु अनादि अनन्त विराट्व्यापी अपरिच्छिन्न महाकाल है। काल भगवान् की आधिदैविक विभूतिस्वरूप हैं इस कारण स्मृतियों में अनेक स्थानों में परमेश्वर के साथ कालकी

* आचार्य्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः॥
मातरं पितरञ्चैव शुश्रूषन्ते जितेन्द्रियाः।
भ्रातृणाञ्चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
दशाचार्य्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश।

† देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
पितृदेवो भव।
अर्च्चयित्वा पितृन्देवान्नियतो नियतासनः।
सर्व्वकामसमृद्धश्च यज्ञस्य फलमश्नुते॥

तुलना की गई है।* इस प्रकार कलनात्मक काल परमेश्वर के सदृश निर्लिप्त होने पर भी सूक्ष्म और स्थूल भेद से अमूर्त्त और मूर्त्त कहकर शास्त्र में कल्पित हुआ है। काल सर्व्वथा निर्लिप्त है तथापि सकल जन्य पदार्थों का जनकरूप होनेसे परिच्छिन्न जीव की प्रकृति के कर्मविभाग और अन्तर्विभाग के अनुसार क्षण, काष्ठा, निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, मास, पक्ष, वर्ष आदिरूप से बहुधा विभक्त हुआ है।† जगत् में जीव की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय ही सर्व्वथा कालकी महिमा व्यक्त करते रहते हैं। जो कुछ भाव और अभाव, सुख और दुःख, शुभ और अशुभ, सब कुछ काल के प्रभाव से ही संघटित हुआ

---

* कालोयं भगवान् विष्णुरनन्तः परमेश्वरः।
तद्वेत्ता पूज्यते सम्यक् पूज्यः कोऽन्यस्ततो मतः॥

† लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चाऽमूर्त्त उच्यते॥
जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥
एवं कालोप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तमे।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥
स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतो विशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्॥

करता है। * महाप्रलय में प्रकृति के तमोमय गर्भ में विलीन जीवसमूह को कालही पिता के समान सृष्टि के प्रकाशमय दृश्य में आनयन किया करते हैं। जगत् में उत्पन्न जीवों की सुखमय स्थिति का सम्पादन सर्वथा काल की कृपा से ही हुआ करता है एवं पुनः प्रलय के समय में जगत् के जीवोंका नाश कालही रुद्रमूर्त्ति परिग्रह करके किया करते हैं। जगत्के विविध रसों में एकरस और विविध विकारों में निर्व्विकारस्वरूप काल उपाधिके भेदसे बहुधा परिलक्षित होता है। दुरत्यय काल सुषुप्तिकी घोर-दशा में जगत् के आच्छन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशमान रहताहै। इस महामोहमय ब्रह्माण्ड कटाहमें सूर्यरूप अग्नि के संयोग से, रात्रि एवं दिवारूप इन्धन द्वारा, मास एवं ऋतुरूप दर्वी (कड़छुल) के साहाय्य से कालही भूतगण को पका रहा है अर्थात् परिताप देरहा है। देवता, ऋषि, लोकपाल और कितने ही इन्द्र कालके प्रभावसेही उत्थित और पतित हुए हैं। † कालकी महिमा की इयत्ता कौन कर सक्ता है ?। स्मृति में स्पष्टाक्षरों से कहा है कि यदि काल अनुकूल नहीं हो तो बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययन द्वारा कुछ भी विशेष फल नहीं होता है; प्रत्युत काल अनुकूल होनेपर

* विधातृविहितं सर्गं न कश्चिदतिवर्त्तते।
कालमूलमिदं सर्व्वं भावाभावौ सुखासुखे॥

† कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥

मूर्ख व्यक्ति भी अभीप्सित विषय प्राप्त हो जाता है। शिल्प, मन्त्र अथवा औषध, काल पूर्ण न हो तो किसी प्रकारसे भी सिद्धि प्रदान नहीं करसक्ते हैं। कालके प्रभावसे ही नियमितरूप से पवन का पदक्रम, जलदजालका वारिधारा वर्षण, सरोवर में पङ्कजविकाश एवं अरण्य में कुसुम-सुषमा का विस्तार हुआ करता है। जगत् में जन्म अथवा मृत्यु, बाल्य जरा यौवन आदि की प्राप्ति सबही कालानुसार हुआ करती है, अकाल में किसी की भी उत्पत्ति वा मृत्यु नहीं होती है, अधिक क्या क्षेत्र में बीज वपन करने पर भी काल के अनुकूल न होने से उस बीज

कालो हि कुरुते भावान्सर्व्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्व्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविकृतः समः ॥
अस्मिन्महामोहमये कटाहे
　　सूर्य्याऽग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्व्वीपरिघट्टनेन
　　भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च ।
विनष्टानीह कालेन मनुजेष्वथ का कथा ॥
राजर्षयश्च बहवः सर्व्वे समुदिता गुणैः ।
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव कालेन निधनं गताः ॥
ये समर्था जगत्यस्मिन् सृष्टिसंहारकारिणः ।
तेऽपि कालेन लीयन्ते कालो हि बलवत्तरः ॥

में अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती है।* इस प्रकार शास्त्र में काल की महिमा सम्यक् प्रतिपादित हुई है। काल की सेवा कालानुकूल धर्म्मसाधन के द्वारा होती है। धर्म्म-कार्य के तत्त्वतः धर्म्मसम्बन्धी होने पर भी यदि काल और प्रकृति अनुकूल न हो तो वह अधर्म्म में परिगणित होता है। इस कारण बुद्धिमान् लोग कालानुकूल धर्म्म-साधन को ही धर्म्मसेवा कहकर निर्देश करते हैं। काल और प्रकृति के अनुकूल धर्म्मसाधन करने पर साधकगण धीरे धीरे आध्यात्मिक मार्ग में उन्नत होते हुए अन्त में जीवभाव परित्याग करके जीवन्मुक्तिपद पर प्रतिष्ठित होते हैं। उस समय उनकी पृथक् सत्ता विलुप्त होकर विश्व-जीवन के साथ एकता होती है, और व्यष्टिसत्ता विराट् की

---

* न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
 प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
 कालो हि कार्य्ये प्रति निर्विशेषः॥
नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
 शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि
 सिध्यन्ति वर्द्धन्ति च भूतिकाले॥
कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
 कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च

अनन्त सत्ता के साथ एकीभाव प्राप्त होती है। इस समय योगी और स्वयं कुछ नहीं करता है । उसके क्रियमाण संस्कार नहीं रहते हैं। विराट् केन्द्र के द्वारा चालित हो कर, परमेश्वर की शक्ति प्राप्त होकर जगत्कल्याणप्रद भगवत्कार्य्य किया करता है । विराट् समुद्र के तरङ्गों से तरङ्गायित होकर प्रवाह पतितभाव से कार्य्य करता है। यही महाकाल की सेवा है । इसप्रकार से भगवान् की त्रिविध विभूति स्वरूप पिता काल और महाकाल की सेवा हुआ करती है ॥ १३ ॥

अब प्रकृति के विभूति समूह का पूज्यत्व वर्णन किया जाता है :—

एवं माता देह और जन्मभूमि ॥ १४ ॥

स्थूलशरीरदात्री माता, क्षेत्ररूप देह एवं जन्मभूमि ये यथाविधि पूजनीय हैं। माता देह और जन्मभूमि भगवान् की शक्तिस्वरूपिणी महामाया की विभूति हैं इस कारण सर्व्वथा सेवनीय हैं। माता पृथिवी की मूर्त्ति है उसको प्रसन्न करने से वसुन्धरा पूजिता होती है । संसार में माता के

कालेन पुष्पन्ति वनेषु वृक्षाः ॥
नाऽकालतो म्रियते जायते वा
नाऽकालतो व्याहरते च बालः ।
नाऽकालतो यौवनमभ्युपैति
नाऽकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥
मातृदेहजन्मभूमयश्च ॥ १४ ॥

समान गुरु कोई नहीं है । इन सब स्मृतिवचनों के अनुरूप ही श्रुति भी आज्ञा करती है कि माता में श्रद्धा रखनेवाला पुत्रही जगत् में धन यश और विद्या लाभ करसक्ता है । * जितेन्द्रिय और मातृभक्त सन्तान दीर्घायु और स्वर्गगामी होताहै । देह की पवित्रता और स्वास्थ्यरक्षा द्वारा देह की सेवा होती है एवं जन्मभूमि के अर्थ स्वार्थ-त्याग करसकने पर उसकी भी सेवा होती है ! इन दोनों की सेवा के द्वारा परम मङ्गल लाभ हुआ करता है ॥१४॥

---

* आचार्य्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेः तनुः ॥
दश चैव पितॄन्माता सर्व्वां वा पृथिवीमपि ।
गौरवेणाऽभिभवति नाऽस्ति मातृसमो गुरुः ॥
मातृदेवो भव । मातृमान्पुरुषो वेद ।
यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्व्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्व्वं समाप्यते ॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥
जीवतो वाक्यकरणान्मृताहे भूरिभोजनात् ।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥
विद्याधनमदोन्मत्तो यः कुर्य्यान्मातृहेलनम् ।
स याति नरकं घोरं सर्व्वधर्म्मबहिष्कृतः ॥
मातरं पितरञ्चैव शुश्रूषन्ते जितेन्द्रियाः ।
भ्रातॄणाञ्चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
मातापितरमुत्थाय पूर्व्वमेवाऽभिवादयेत् ।
आचार्य्यमथवाऽप्यन्यं तदायुर्विन्दते महत् ॥

दोनों प्रकार की विभूति की सेवा से क्या फल होता है सो वर्णन किया जाता है :—

इनके द्वारा पुण्य, शक्ति और मुक्ति होतीहै॥ १५॥

ब्रह्म और प्रकृति के विभूतिसमूह की सेवा द्वारा पुण्य-शक्ति एवं मुक्ति लाभ हुआ करता है । माता पिता की सेवा के द्वारा पुण्यलाभ, देह और काल की सेवा के द्वारा शक्तिलाभ एवं जन्मभूमि और महाकाल की सेवा के द्वारा मुक्तिलाभ हुआ करता है । स्मृति ने मातृ पितृसेवापरायण पुत्र के अर्थ स्वर्गसुखभोग का विधान किया है। स्वर्गसुख-भोग पुण्यविपाक द्वारा ही हुआ करता है इस कारण उन दोनों की सेवा पुण्यप्रद है इसमें सन्देह नहीं। काल अथवा स्थूलप्रकृति के विरुद्ध कार्य्य करनेसे उसकी विषम प्रति-क्रिया स्थूल सूक्ष्म उभय विध प्रकृतिको ही आघात पहुँचा कर शक्तिहीन कर डालती है। और दूसरी ओर काल और देह के अनुकूल कार्य्य सर्व्वदा अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करके शक्तिवर्द्धक हुआ करता है, इस कारण काल और देह की सेवा द्वारा शक्तिलाभ होता है । जन्मभूमि की सेवा के द्वारा देश का कल्याण होने से उससे आधिभौतिक मुक्तिलाभ एवं महाकाल की सेवा से व्यष्टिप्रकृति महा-प्रकृतिके साथ मिलित होकर जीवभाव नाश करके शिव-भाव प्राप्ति के द्वारा आध्यात्मिक मुक्ति लाभ हुआ करता है। यही सर्व्वशास्त्रसिद्धान्तित प्रकृतिपुरुष की विभूतियों की सेवा से उत्पन्न परम फल है ॥ १५ ॥

तथात्वात्पुण्यशक्तिमुक्तयः ॥ १५ ॥

उपासना की सिद्धि के विषय में हेयोपादेय विभाग वर्णन किया जाता है :—

मन के द्वारा सृष्टि और बुद्धि के द्वारा लय हुआ करता है ॥ १६ ॥

सृष्टिविस्तार के विषय में सङ्कल्प विकल्पात्मक मन ही मूलकारण है एवं सृष्टिप्रवाह को विपरीतवर्त्ती करके लय की ओर अग्रसर करने के अर्थ निश्चयात्मिका बुद्धि ही मूलकारण है। वेदान्त के मत से पञ्चतत्त्व के सूक्ष्म सत्त्वांश से अन्तःकरण उत्पन्न हुआ है। अन्तःकरण में मन और बुद्धि प्रधान हैं। चित्त मनका और अहङ्कार बुद्धि का अन्तर्भावमात्र हैं। मन रजोगुण प्रधान होने से वासना उत्पन्न करके जीव के बन्धन का कारण हुआ करता है। श्रुति में कहा है कि जो कुछ चराचर दृश्य जगत में द्वैतता और भ्रान्ति है सो मन काही विजृम्भणमात्र है, मनका अमनीभाव होने से ही पुनः द्वैतप्रतीति नहीं रहती है। उस समय सर्व्वत्र "एकमेवाऽद्वितीयम्" ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। * इसी प्रकार स्मृतिकारों ने भी कहा है कि बन्ध और मोक्ष के मूल में आदिकारणरूप मन विद्यमान है, त्रिभुवन की प्रपञ्च रचना मनका ही विलास-मात्र है, बालक की चञ्चल बुद्धि-सुलभ आख्यायिका

सृष्टिर्मनसा लयो बुद्ध्या ॥ १६ ॥

* मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

के अनुसार अद्वैतमय जगत् में मनके ही प्रभाव से अनन्त द्वैतभाव का विस्तार हुआ है। * स्मृति में और भी कहा है कि संसार में देवता, मनुष्य, ग्रह, कर्म्म वा काल कोई भी दुःख का कारण नहीं है केवल दुरन्त मन ही सब सुख दुःखों का आदिकारण है। संसारचक्र का परिवर्त्तन मनके द्वाराही हुआ करता है। बलवान् मन गुणसमूह की सृष्टि करके त्रिगुण के तारतम्यानुसार त्रिविध सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्म्मों का विस्तार करताहुआ गुणमय सृष्टिप्रवाह की सहायता किया करता है। इच्छा द्वेष सुख दुःखादि अन्तःकरण-धर्म्मों के साथ तत्त्वतः निर्लिप्त भावापन्न होने पर भी केवल दुर्दान्त मन के ही प्रभाव से आत्मा अन्तःकरण के धर्म्मों के साथ आभिमानिक एकताभाव प्राप्त होता हुआ बद्ध हुआ करता है। दान, स्वधर्म्म, यम, नियम, व्रतादि जो कुछ, सबही मनोनिग्रह द्वारा अनुष्ठित हुआ करता है। मनका निग्रह करनाही परम योग है। जिसका मन शान्त हुआ है उसको दानादि किसी कर्म्म की आवश्यकता नहीं होती है एवं चञ्चल चित्त मनुष्य के सहस्र सहस्र दानादि कर्म्म करने पर भी कोई विशेष फल लाभ नहीं होता है।

---

* आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टिः
पश्चात्प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभगबालजनोदिते च ॥

मन के विकारभूत देह के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होकर जीव "मैं मेरा" करता हुआ अन्धबुद्धि होकर भयानक भवरूपी अन्धकार में निमग्न होता है। * इस कारण मन के साथ सृष्टि का सम्बन्ध वर्णित हुआ है।

* नाऽयं मनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्म्मकालाः।
मनःपरं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्त्तयेद्यः॥
मनो गुणान्वै सृजते वलीय-
स्ततश्च कर्म्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निवद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥
दानं स्वधर्म्मो नियमो यमश्च
श्रुतञ्च कर्म्माणि च सद्व्रतानि।
सर्व्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्य-
द्दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥
देहं मनोमात्रमिदं गृहीत्वा
ममाऽहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥

इस प्रकार का सम्बन्ध दैवजगत् में भी अविसंवादित सत्य होनेके कारण श्रुति स्मृति आदि में चन्द्रमा को मन के अधिदैवरूप से वर्णन किया गया है । श्रुति ने चन्द्रमा को भगवान् के मन से उत्पन्न हुआ कहा है । * और भी स्थान स्थान पर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के साथ चन्द्रमा और मन का सम्बन्ध दिखाया गया है । † चन्द्रमा की अमृत-धारा ओषधिगण की पुष्टिकारक है, चन्द्रमा के साथ जीव जगत् का सम्बन्ध विशेष है इस कारण श्रुति ने मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों को ही "रयि" वा "अन्न" कहकर चन्द्रमा कोही " रयि " कहा है । ‡ स्मृति में भी प्रत्येक पदार्थ के त्रिभाव निरूपण के समय कहा गया है कि मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव है । + चन्द्रमा के साथ मन का और सृष्टि का इतना सम्बन्ध होनेसे ही गीता और उपनिषदों में धूमयान-गति के साथ चन्द्रलोक का सम्बन्ध वर्णित हुआ है । ×

* चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत ।

† मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा
तद्यादिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा ।

‡ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्व्वं
यन्मूर्त्तञ्चाऽमूर्त्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेवरयिः ।

+ मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाऽधिदैवतम् ॥

× अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तामित्युपासते ते धूममभि-
सम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणेति

नैमित्तिक पितृगण इस धूमयानगति को प्राप्त होकर धूमाभिमानिनीदेवता, रात्रिदेवता आदि देवतागण के लोकसमूह अतिक्रम करते हुए चन्द्रलोक में गमन करते हैं। वहां पुण्यक्षय-कालपर्य्यन्त रहकर पश्चात् पुनः पृथिवी पर आते हैं। सकाम कर्मों के फल से इस प्रकार की गति प्राप्त होती है। इसके द्वारा सृष्टि का प्रवाह शान्त नहीं होता है। मानसिक वासना ही इस सबकी मूल है। इस वासना के द्वारा पुनः पुनःजन्म मरण चक्र में घटीयन्त्र की तरह जीव भ्रमण किया करता है। * इस कारण इस

मासाँस्तानैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति । मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥

* प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥
इष्टापूर्त्तं मन्यमानावरिष्ठं
नाऽन्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाऽऽविशन्ति ॥

दर्शन में कहा गया है कि मनही सृष्टि के प्रवाह-विस्तार का मूलकारण है। परन्तु बुद्धिनिश्चयात्मिका होने के कारण मनके समान चञ्चल प्रकृति नहीं है। इस कारण बुद्धिवृत्ति के अवलम्बन से जीव सत्यासत्य का निश्चय करके मुक्ति पथ में अग्रसर होसक्ता है। * एवं यह बुद्धि क्रमशः सात्त्विकभाव अवलम्बन करती हुई जब ऋतम्भरारूप को प्राप्त होती है तबही साधक को स्वरूपोपलब्धि द्वारा मुक्तिपद प्राप्ति हुआ करती है। † इस कारण शास्त्र में सूर्य्य के साथ बुद्धि का अधिदैवसम्बन्ध कहा गया है। सूर्य्यलोक के साथ देवयानगति का सम्बन्ध है इसी कारण विचारपरायण साधक इहाऽमुत्र फलभोग के प्रति विचारद्वारा वैराग्य अवलम्बन करते हुए ज्ञान और तपस्या के कारण देवयानगति प्राप्त होकर सूर्य्यद्वार से ब्रह्मलोक में उपनीत होकर मुक्तिपद लाभ करते हैं। ‡ इसी गतिको गीता में उत्तरायणगति कहागया है। इस प्रकार की गति-प्राप्त साधक अग्न्यभिमानी देवता, ज्योतिर्देवता, अहर्लोकदेवता, आदिदेवतागण के लोकों को अतिक्रम करके परिशेष में ब्रह्मलोक में पहुँचायाजाता

---

* मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी।
हृदयं प्रियाऽप्रिये वेद त्रिविधा कर्म्मचोदना॥

† ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा।

‡ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यं चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति

है। * वहां से उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार सुबुद्धि के प्रभाव से वासना-विमुक्त होकर सप्तम लोक में जाकर जीवगण का परब्रह्म में लय होजाता है। और जो क्रमोर्ध्वगति के द्वारा लय को प्राप्त न होकर साहजिक गति के अवलम्बन से इस संसार में ही ब्रह्म में विलीनताको प्राप्त हुआ करते हैं उसके सम्बन्ध में भी श्रुति और स्मृति ने बुद्धि को लयहेतु प्रतिपादन किया है। कठोपनिषद् में कहा है कि शरीररूप रथ का रथी आत्मा है, इन्द्रियगण अश्व हैं, मन अश्वसञ्चालन के अर्थ प्रग्रह (सारथी के पकड़नेकी रस्सी) रूप है, विषय ही मार्गरूप है एवं बुद्धि सारथीरूपिणी है । आत्मा मन और इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर "भोक्ता" हुआ करता है। जबतक जीव मन से चाञ्चल्यपरायण रहता है तबतक दुष्ट अश्वयुक्त सारथी की तरह दुष्ट इन्द्रियगण के द्वारा जीव को जन्ममरण का दुःख हुआ करता है । परन्तु

यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्ययमात्मा ।।

तद्य इत्थं विदुर्य्ये ये मेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्च्चिषमभिसम्भवन्त्यर्च्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् यदुदङ्ङेति मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतां ब्रह्म गमयत्येप देवयानः पन्था इति ।

* अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।

सुबुद्धिमान् सारथी के द्वारा रथसञ्चालन की तरह जब जीव मन के चाञ्चल्य को दमन करता हुआ सुबुद्धि की सहायता से ज्ञानपथ में अग्रसर होता है तबही जीव का भवभय दूर होकर उसको परमपद प्राप्ति होती है। आत्मा प्रच्छन्नभाव से सर्व्वभूतों में अवस्थिति करते हैं। केवल परमऋतम्भरा बुद्धिद्वारा ही उनकी उपलब्धि हुआ करती है। * इसी कारण बुद्धि ही लय का कारण है। इस प्रकार स्मृति में भी कहा है कि त्रिगुणातीत परमपद में विलीनता प्राप्ति के अर्थ धर्म्म अधर्म्म, सत्य असत्य आदि सकल द्वन्द्वों से अतीत होना होता है। अलिप्सा के द्वारा अधर्म्म को त्याग करते हुए असङ्कल्प के द्वारा धर्म्म को भी त्याग करना होता है। इसी प्रकार सत्यासत्य को बुद्धि के द्वारा त्याग करके परमनिश्चय के द्वारा उस (बुद्धि)

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
एवं सर्व्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

को भी त्याग करना होता है । * अतएव द्वन्द्व त्याग के सम्बन्ध में स्मृतिकारों ने बुद्धि का प्रयोजकत्व दिखाकर उस (बुद्धि) की लयहेतुता प्रतिपादन की है । इस प्रकार मन के द्वारा सृष्टि एवं बुद्धि के द्वारा लय-साधन हुआ करता है ॥ १६ ॥

सृष्टि का विभाग कियाजाता है :—

बैजी एवं मानसी है ॥ १७ ॥

बैजी एवं मानसी इन भेदों से सृष्टि दो प्रकार की हुआ करती है । स्त्री और पुरुष के संयोग से जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसका नाम बैजी सृष्टि है । भौतिक जगत् की उत्पत्ति के मूल में दृष्टिपात करने पर प्रत्येक अन्तर्दृष्टि-परायण मनुष्य जानसकेगा कि आणविक संयोजन की प्रक्रिया में भी इसी प्रकार की द्विविधशक्ति का समावेश है । पुरुष परमाणु स्त्री परमाणु के साथ संयुक्त होकर स्थूल जगत् का विस्तार करते हैं । इसी प्रकार द्विविधशक्ति के संयोग से उद्भिज्ज योनिमें भी सृष्टि देखी जाती है । भ्रमर अथवा पवन के द्वारा पुष्पान्तर्गत पुंपराग स्त्रीपराग के साथ

---

* त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च तथा सत्याऽनृते त्यज ।
उभे सत्याऽनृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥
त्यज धर्म्ममसङ्कल्पादधर्म्मञ्चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्याऽनृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥
बैजी मानसी च ॥ १७ ॥

सम्मिलित होकर उद्भिज्ज श्रेणी की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार महामाया के कौशल से बैजी सृष्टि का लीलाविलास सर्व्वत्र ही नयनगोचर होता है। यह साधारण वा सामान्य सृष्टि के अन्तर्गत है। परन्तु मानसी सृष्टि का अधिकार साधारण नहीं है। यह विशेष सृष्टि है। श्रुति ने प्रजातन्तु के विस्तार के विषय में अनेक स्थलों में इस प्रकार की असाधारण मानसी सृष्टि का विधान किया है * ॥ १७ ॥

द्विविध सृष्टि के विषय में फिर कहा जाता है :-

पहली प्रकृति के अधीन है और दूसरी अन्य के अधीन है ॥ १८ ॥

बैजी सृष्टि प्रकृति के अधीन है किन्तु मानसी सृष्टि इस प्रकार नहीं है। उद्भिज्ज योनि से मनुष्ययोनि के पूर्व तक केवल बैजी सृष्टि का ही अधिकार है क्योंकि मनुष्येतर समस्त श्रेणी ही प्रकृति माता के अधीन होकर सृष्टि करते रहते हैं। बुद्धितत्त्व के विकाश न होने से उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज के अन्तर्गत्त सकल श्रेणी के पशु प्रकृति माता के सृष्टि प्रवाह विस्तार के नियम को कभी भी उल्लङ्घन नहीं कर सके हैं। उनका खाना सोना मैथुन आदि सब कार्य्य ही प्रकृति के अधीन हुआ करता है। जिस समय प्राकृतिक नियमानुसार सृष्टि-विस्तार की

---

* मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त ।

आद्या प्रकृत्यधीनाऽन्याऽधीना चाऽपरा ॥ १८ ॥

आवश्यकता होती है उस समय स्वतः ही उनमें काम उदय होकर बैजी सृष्टि कराता रहता है । उनका यह कार्य्य कदापि स्वायत्त नहीं है परन्तु सर्व्वथा प्रकृति के अधीन है । इसी कारण बैजी सृष्टि प्रकृति के अधीन कही गई है । मानसी सृष्टि का अधिकार मनुष्य से प्रारम्भ कर के उन्नततर सकल प्राणियों में है । महाप्रलय के अन्त में अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने और ऋषिगण ने मानसी सृष्टि के द्वाराही प्रजाओंको उत्पन्न किया था । * परवर्त्ती काल में सत्ययुग के थोड़े अंश में भी जबतक चित्त की असाधारण शक्ति मनुष्यों में विद्यमान रहती है तबतक मैथुनी सृष्टि की आवश्यकता नहीं होतीहै । बुद्धि-तत्त्व के विकाश के कारण मनुष्य स्वाधीन होकर यथेच्छ खाना सोना मैथुनआदि कर सक्ते हैं । इस प्रकार मनुष्य अपनी प्रकृति का प्रभु होने से पाप पुण्य का अधिकारी हुआ करता है मनुष्येतर पशु पाप पुण्य का अधिकारी नहीं होता है इस कारण मनुष्य के मैथुनी सृष्टि करने पर भी मानसी सृष्टि का अधिकार भी मनुष्य ही प्राप्त हो सक्ता है ॥ १८ ॥

जीवात्मक सृष्टि में अधिकारभेद वर्णन कियाजाताहैः—

---

* ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
एवमेतैरिदं सर्व्वं योनियोगान्महात्मभिः ।
यथा कर्म्मतपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥

मनुष्य स्वतन्त्र हैं परन्तु अन्य जीवसमूह परतन्त्र हैं ॥ १६ ॥

स्वतन्त्रता मनुष्य के अधिकार में ही पाईजाती है, मनुष्येतर अन्य प्राणीसमूह स्वतन्त्र नहीं हैं। वेदान्त सिद्धान्तित पञ्चकोषविज्ञान के प्रति संयम करने से देखा जायगा कि प्रकृति के निम्न स्तर से लगाकर क्रमोर्ध्व स्तरों में धीरे धीरे कोषसमूह का भी विकाश होता रहता है। उद्भिज्जों में अन्नमय कोष का विकाश, स्वेदजों में अन्नमय एवं प्राणमय इन उभयविध कोषों का विकाश, अण्डजों में उक्त उभयविध कोषोंके अतिरिक्त मनोमय कोषका विकाश, जरायुजों के अन्तर्गत पशुओं में विज्ञानमय कोष का भी विकाश अर्थात् चार कोषों का ही विकाश एवं मनुष्यों में पांचों कोषों का विकाश हुआ करता है। पञ्चम अर्थात् आनन्दमय कोष का विकाश केवल मनुष्यों में ही दिखाई देता है। इसी कारण आनन्द के स्थूल लक्षण हास्यादि मनुष्य ही करसक्ता है। इस प्रकार कोषसमूह के सम्यक् विकाश होजाने के कारण बुद्धिजीवी विचारकुशल मनुष्य अपनी प्रकृति पर स्वातन्त्र्य लाभ किया करता है। किन्तु मनुष्येतर जीवगण बुद्धि विकाश के अभाव के कारण इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करसक्ते। इस कारण ही वे सम्पूर्णरूप से प्रकृतिमाता के अधीन होने के कारण पाप पुण्य के अधिकारी नहीं होते हैं। परन्तु मनुष्य

स्वतन्त्रा मनुष्याः परतन्त्रास्त्वन्ये ॥ १६ ॥

विचारबुद्धि के द्वारा सुशोभित होने से धर्म्माधर्म्म का तत्त्व निर्द्धारण करताहुआ आध्यात्मिक उन्नति लाभ कर सक्ता है। इसी कारण ही शास्त्रों में मनुष्यजन्म का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन हुआहै। स्मृति में कहा है कि मनुष्यहीको धर्म्मा-धर्म्म का अधिकार प्राप्त होसक्ता है। मनुष्येतर प्राणियों में यह अधिकार नहीं है। जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य मुक्ति-साधन मनुष्ययोनि में ही सम्भव होता है। सुकृत के अनुष्ठान द्वारा आत्मा का उद्धार सम्पादन मनुष्य ही कर सक्ता है। इसी कारण मनुष्य यदि चाण्डाल भी हो तथापि वह अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो मोहान्ध मानव इस प्रकार की दुर्लभ योनि प्राप्त होकर भी आत्मा का उद्धार साधन नहीं करता है वह हतभाग्य है और आत्मघाती है।* इसी प्रकार श्रुति में भी अश्व, गौ आदि मनुष्येतर जीवों के साथ तुलना करके मनुष्य की ही सर्व्व-

* मानुषेषु महाराज ! धर्म्माऽधर्म्मौ प्रवर्त्तितौ।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्व्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्म्मभिः शुभलक्षणैः ॥
कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो ! ।
कुर्व्वन्ति धर्म्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात् ॥
यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्म्माऽवमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते ॥

श्रेष्ठता प्रतिपादन कीगई है। * अन्य जीवों में इस प्रकार की स्वतन्त्र कार्य्यकारिता शक्ति नहीं है इस कारण प्रकृति माता उनको अपने अधीन करके क्रमशः उन्नत करतीहुई मुक्तिप्रद मनुष्ययोनि प्राप्त कराती है। इसी कारण मनुष्य स्वतन्त्र हैं और अन्य जीव परतन्त्र हैं ॥ १९ ॥

बुद्धि के प्राधान्य के कारण साधक का लक्षण वर्णन किया जाता है :—

बुद्धिकार्य्य के विषय में प्राप्तोन्नति पुरुष ही साधक है ॥ २० ॥

बुद्धिराज्य में उन्नतिशील पुरुष ही साधकपदवाच्य हुआ करता है। साधक जितना ही आध्यात्मिक जगत् में उन्नतिलाभ करता रहता है उतना ही उसमें शुद्ध बुद्धि का विकाश और तत्सम्बन्धीय कार्य्यकलाप का लक्षण परिदृष्ट होता है। प्रकृति के निम्न स्तर के जीवों के साथ उच्च स्तर स्थित जीवों के आत्मा की एकाकारिता के विचार से भेदभाव लेशमात्र न होने पर भी त्रिगुणमयी प्रकृति के गुणविकाश के तारतम्यानुसार ही द्वैतता और अनन्त वैचित्र्य विजृम्भित हुआ करताहै। प्रकृति के निम्नतर

---

* ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति॥ ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतं। ता अब्रवीत् यथायतनं प्रविशतेति॥

बुद्धिकार्य्यसत्त्वोपलक्षितोन्नतिः साधकः ॥ २० ॥

स्तरसमूह में तमोगुण के विकाश का आधिक्य होने से वहां बुद्धि और ज्ञान का विकाश हो नहीं सक्ता है; परन्तु जीव जितनाही प्रकृतिराज्य में उन्नत होता है उतनाही उसमें तमोगुण का आवरण उन्मुक्त होकर सत्त्वगुण के विकाश के साथ साथ बुद्धि और ज्ञान का आविर्भाव होता रहता है। इसी भावसे ही मनुष्यों के साथ मनुष्येतर जीवसमूह का पार्थक्य एवं मनुष्यों में भी ज्ञानविकाश के पार्थक्यानुसार उन्नत अथवा अवनत मनुष्यों का भेद परिलक्षित होता है। मनुष्य प्रथमतः अज्ञान के कारण पशु के समान ही रहता है, तत्पश्चात् उन्नति के साथ साथ मनुष्यत्व का विकाश होता है। अनार्य्य आर्य्य एवं आर्य्यों में वर्णव्यवस्था आदि विभेद उल्लिखित मनुष्यत्व के विकाश के ही परिचायक हैं। इस प्रकार मनुष्यत्व के उन्नत सोपान पर आरोहण करताहुआ धर्म्माधर्म्म का तत्त्व अवगत होकर शुद्धबुद्धि की सहायता से जब मानव आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता है तब ही वह साधक पदवी प्राप्त करता है॥ २०॥

साधक के लक्षण वर्णन करने के अनन्तर साधन का लक्षण वर्णन कियाजाता है :—

सृष्टिक्रिया का अप्रवर्त्तक लयोन्मुखता सम्पादक-कर्म साधन है॥ २१॥

सृष्टिक्रियाऽप्रवर्त्तकं लयोन्मुखतासम्पादकं साधनम्॥ २१॥

जिन सब उपायों के द्वारा सृष्टिकार्य्य निवृत्त होकर प्रकृति की लयाभिमुखिनी गति सम्पादित होती है उस का नाम साधन है। जीव को कर्म्म के द्वारा ही बन्धन औ कर्म्म के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हुआ करती है। जिस प्रका ग्रन्थिबन्धन और ग्रन्थिमोचन उभयविध कर्म्म में ही हस्तचालन की आवश्यकता होती है परन्तु एक प्रका के हस्तचालन से ग्रन्थिबन्धन होने पर भी अन्य प्रका के हस्तचालन से ग्रन्थिमोचन हुआ करता है; उसी प्रका वासनामय कर्म्मों के द्वारा सृष्टिप्रवाह का विस्तार एव संसारचक्र में नियत परिभ्रमण होने पर भी निष्काम वासनागन्धरहित, पवित्रकर्म्मसमूह के द्वारा जगच्चक्र विघूर्णन निवृत्त होकर जीवको मुक्ति लाभ हुआ करता है जिस उपाय के द्वारा इस प्रकार का जन्ममृत्युमय संसार भोग निवृत्त होता जाता है और मनुष्य मुक्ति के पथ मे अग्रसर होसक्ता है उसको साधन कहते हैं ॥ २१ ॥

साधन के तत्त्वनिर्णयार्थ सृष्टि और लय का कारण वर्णन किया जाता है :—

अज्ञान और चाञ्चल्य के द्वारा सृष्टि एवं ज्ञान और धैर्य्य के द्वारा लय हुआ करता है ॥ २२ ॥

सृष्टिप्रपञ्च के विस्तार का मूलकारण अज्ञान और चाञ्चल्य है एवं उसके लय का कारण ज्ञान और धैर्य्य

अज्ञानचाञ्चल्याभ्यां सृष्टिर्ज्ञानधैर्य्याभ्यां लयः ॥ २२ ॥

है। आत्मा और अनात्मा के विवेक से शून्य होकर मिथ्या और मायामय संसार को वास्तविक मूलाधार धारणा करते हुए उसमें जो आसक्ति है वही अज्ञान और सृष्टिविस्तार का कारण है। उपनिषदों में कहा है कि आत्मा माया के द्वारा परिमोहित होकर शरीर धारण करताहुआ स्रक्-चन्दन और वनितादि विचित्र भोगों में रत होता है। * गीता में वर्णन है कि परमात्मा कर्तृत्व वा कर्म्म कुछ भी सृजन नहीं करते हैं, अज्ञान के द्वारा ज्ञान के आच्छन्न होजाने से ही जीव को इस प्रकार मोह हुआ करता है। † अज्ञानजनित देहात्मबुद्धि चित्त में चाञ्चल्य उत्पन्न करके जीव को संसार जाल में बद्ध करती है। जीव के वासना वासित चित्त में इस प्रकार संसार का विस्तार होता रहता है। इसी कारण ही स्मृतिकार कहते हैं कि चञ्चल चित्त विविध गुणों की सृष्टि करता हुआ सात्त्विक राजसिक और तामसिकरूप से विविध क्रियाओं की सृष्टि करता है उसी से कर्म्ममय प्रपञ्च का विस्तार होता है। निर्व्विकार आत्मा के साथ चञ्चलस्वभाव मन का इस प्रकार सम्बन्ध होने

---

* स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्व्वम्।
स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति॥

† न कर्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

से ही आत्मा की बन्धनदशा उपस्थित होती है । * पक्षान्तर से ज्ञान और धैर्य्य के विकाश के साथ साथ जीव की बन्धनदशा दूर होकर मुक्ति का उदय हुआ करता है । ज्ञान के उदय से अज्ञानकृत देहात्म बुद्धि विगलित होने से जीव पुनः संसार में बद्ध नहीं होता है, सांसारिक मिथ्या भोगादि से विरतचित्त होकर परमात्माके साधन में प्रवृत्त होताहै और अन्त में परमात्मा का साक्षात्कार करके मुक्तिपद प्राप्त हुआ करता है । इसी कारण ही उपनिषदों में कहा है कि आत्मा को अरणि करके प्रणवरूपी उत्तरारणि द्वारा ज्ञान को निर्मल करसकने पर समस्त पापों का नाश हुआ करता है । परमात्मा को जानने सेही समस्त संसारपाश नष्ट होते हैं एवं अविद्यादि क्लेश क्षीण होने से जन्ममृत्यु के चक्र में पुनः परिभ्रमण करना नहीं होता है । इसी ज्ञान के प्रसाद से ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है । उस समय हृदयग्रन्थि विच्छिन्न

---

* मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च, कर्म्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥

होजाती है, समस्त संदेह निरस्त होजाते हैं एवं सकल कर्म्मों के क्षय होजाने से निःश्रेयस लाभ होजाता है। इस प्रकार से धीर योगी सात्त्विकी धृति के अवलम्बन से सब भूतों में परमात्मा की अद्वितीय सत्ता की उपलब्धि करता हुआ मुक्तिपद प्राप्त होता है। * धीरता बुद्धि को विषयविलास के चाञ्चल्यसे मुक्त करती हुई आत्माके साथ एकतानता प्रदान करती है। परमात्मा में विलीनबुद्धि साधक ही निःश्रेयस लाभ करता है। अतः सिद्धान्त यही हुआ कि चाञ्चल्य और अज्ञान से सृष्टि प्रवाह बढ़ता है और ज्ञान और धैर्य्य से सृष्टिप्रवाह की निवृत्ति होकर लयरूपी मुक्तिपद का उदय होता है॥ २२॥

---

* आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तराऽरणिम्।
ज्ञाननिर्म्मथनाऽऽभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥
ज्ञात्वादेवं सर्व्वपाशाऽपहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।
तमेव धीरो विज्ञायाऽतिमृत्युमेति।

अतः पर साधन की निष्पत्ति कहीजाती है :—

प्रवृत्ति और निवृत्ति की उपपत्ति से वह हुआ करती है ॥ २३ ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा साधन निष्पत्ति हुआ करती है। साधनमार्ग दो प्रकार का है, यथा :—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रथम, कामनासम्पर्कयुक्त है और द्वितीय, निष्कामभावमूलक है। प्रवृत्ति के द्वारा अभ्युदय और परम्परारूप से निःश्रेयस लाभ में सहायता हुआ करती है एवं निवृत्ति साक्षात् निःश्रेयसकर है। वैदिक विज्ञानानुमोदित कौशल अवलम्बन करते हुए नियमित साधन का अनुष्ठान करने पर उभय मार्गों से ही परम कल्याण संसाधित होसक्ता है। इस कारण ही दोनों के द्वारा साधननिष्पत्ति हुआ करती है। इसी कारण श्रुति स्मृति ने भी इन दोनों मार्गों का उपदेश विधान किया है * ॥ २३ ॥

द्विविध साधनों के ही परिणाम के विषय में कहा जाता है :—

प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः ॥ २३ ॥

* द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भातः ।
क्रियापथश्चैव पुरस्तात् सन्न्यासश्च ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥
उभयत्रत्रिविधशुद्धिसम्भवः प्रत्यूहतारतम्यादाद्या ।

उभयत्रही त्रिविध शुद्धि की सम्भावना है किन्तु विघ्नों के तारतम्यानुसार प्रथम गौण और दूसरा मुख्य है ॥ २४ ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय प्रकारके साधनों के द्वाराही साधक त्रिविध शुद्धि लाभ करसक्ता है। केवल प्रवृत्ति-मार्ग के विघ्नबहुल होने से उसके साधन गौण हैं एवं निवृत्तिमार्ग सरल होने से मुख्य है। यह पहले ही प्रति-पादित हुआहै कि प्रकृति के साथ के सम्बन्ध के तारतम्या-नुसार भावातीत परमात्मा तीन भाव से परिलक्षित होते हैं। परमात्मा का प्रकृति से अतीत भाव है वही अध्यात्म भाव है, प्रकृति के साथ ईक्षणद्वारा सम्बन्ध युक्त भाव ही अधिदैव भाव है एवं प्रकृतिवैभव विलासमय स्थूलभाव ही अधिभूतभाव है। इन्हीं भावत्रय को यथाक्रम ब्रह्म-भाव ईश्वरभाव और विराट्भाव भी कहाजाता है। कारण ब्रह्ममें उल्लिखित भावत्रय की विद्यमानता के कारण कार्य्य ब्रह्मरूपी इस सृष्टि के प्रत्येक अङ्ग में ही तीन भाव देखेजाते हैं। जो पूर्णद्रष्टा होता है वह प्रत्येक वस्तु को तीन भाव से ही देखता है। स्मृतिशास्त्र में यह भावत्रय-विज्ञान विशेषरूप से प्रकाशित हुआ है। यथा:—पादेन्द्रिय अध्यात्म, गन्तव्य अधिभूत और विष्णु उसके अधिदैव हैं। पाणीन्द्रिय अध्यात्म, कर्त्तव्य अधिभूत एवं इन्द्र

गौणी मुख्याऽपरा तु ॥ २४ ॥

अधिदैव हैं। वागिन्द्रिय अध्यात्म, वक्तव्य अधिभूत और अग्नि अधिदैव हैं। मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव हैं। बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत एवं क्षेत्रज्ञ अधिदैव हैं। * इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में ही तीन भाव विद्यमान हैं एवं प्रत्येक पदार्थ में पूर्णता इन त्रिविध भावोंकी पूर्णता द्वारा ही संसाधित होती है। इसी कारण कार्य्यब्रह्म के प्रधान अङ्गभूत मनुष्य के शरीर में भी उल्लिखित भावत्रय विराजमान हैं यह निःसन्देह है। अतएव मनुष्य की पूर्णता और मुक्ति अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत नामक त्रिविध भावों की शुद्धि और पूर्णता द्वारा संसाधित होसक्ती है अन्यथा नहीं। इस दर्शन में साधनमार्ग को द्विधा विभक्त करके विघ्नसमूह की बहुलता

---

* पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राऽधिदैवतम्॥
चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः।
रूपमत्राधिभूतन्तु वह्निस्तत्राऽधिदैवतम्॥
हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः।
कर्त्तव्यमधिभूतन्तु इन्द्रस्तत्राऽधिदैवतम्॥
वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः।
वक्तव्यमधिभूतन्तु वह्निस्तत्राऽधिदैवतम्॥
मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाऽधिदैवतम्॥
बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिमर्शिनः।
बोद्धव्यमधिभूतन्तु क्षेत्रज्ञश्चाऽधिदैवतम्॥

वा अल्पता के कारण प्रवृत्तिमार्ग की गौणता एवं निवृत्ति-मार्ग की मुख्यता प्रख्यापित होने पर भी उभय के द्वारा ही त्रिविध शुद्धि सम्पादित होकर साक्षात् वा परम्परारूप से अपवर्ग लाभ होता है यही विवृत हुआ है। प्रवृत्तिमार्ग वासनावासित होने से नितरां पङ्किल है एवं इसमें पुनः पुनः पदस्खलन की सम्भावना रहती है; किन्तु निवृत्ति-मार्ग में वासना का गन्धलेश न रहने से वह निर्बाध और सरल है इसमें सन्देह नहीं परन्तु त्रिविध शुद्धि दोनों मार्ग के साधनों में ही होती है ॥ २४ ॥

निवृत्तिमार्ग में त्रिविध शुद्धि का उपाय कहा जाताहैः—

निवृत्तिमार्ग में स्वाध्याय, उपासना एवं कर्म्म-योग के द्वारा त्रिविध शुद्धि होती है ॥ २५ ॥

निवृत्तिपथप्रयाणशील साधक स्वाध्याय उपासना एवं कर्म्मयोग के अवलम्बन से त्रिविध शुद्धि सम्पादन करने में समर्थ हुआ करता है। वेद और तदनुमोदित अध्यात्मशास्त्रसमूह का मनन के साथ अध्ययन स्वाध्याय है। योग एवं भक्ति की सहायता से भगवत्सान्निध्य-लाभ के अर्थ जो यत्न उसको उपासना कहते हैं। वेद और तत्सम्मत शास्त्रों के द्वारा विहित कर्म्मसमूह का निष्काम अनुष्ठान कर्म्मयोग है। कर्म्म उपासना एवं

निवृत्तौ स्वाध्यायोपासनाकर्म्मयोगैस्त्रिविधशुद्धिः ॥ २५ ॥

स्वाध्यायप्रसूत ज्ञान के द्वारा साधक की त्रिविध शुद्धि और मुक्ति होती है । परमात्मा की सत् चित् और आनन्द सत्ता प्रकृति में सर्व्वत्र व्याप्त रहने से प्रत्येक जीव के जीवत्व के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है किन्तु अविद्या का आवरण ही जीवत्व का निदान होने से जीवभाव में यह त्रिविध सत्ता प्रच्छन्न रहती है । अविद्या के आवरण के मोचन के साथ साथ सत् चित् एवं आनन्द सत्ता क्रमविकाश को प्राप्त होती है एवं जब यह आवरण पूर्णतया उन्मुक्त होकर जीवभाव का नाश होता है तबही साधक सच्चिदानन्दस्वरूप होसक्ता है । इसी आवरण के मोचन करने के अर्थ यत्न ही साधन कहाजाता है । सच्चिदानन्द परमात्मा स्वयंप्रकाश हैं उनको प्रकाश करने के लिये अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं होती है । केवल प्रकाशबाधक आवरण दूरीभूत करने से ही मेघमुक्त दिवस की तरह सच्चिदानन्द सत्ता की उपलब्धि हुआ करती है । साधन का प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग त्रिविध विधियों के उपदेश द्वारा अविद्यान्धकार को साधक के चित्त से अपसारित करता हुआ उसको उन्नति के ओर अग्रसर करता है । इस सूत्र से निवृत्तिमार्ग के द्वारा त्रिविध शुद्धि का उपाय वर्णित हुआ है । निवृत्तिमार्ग में कर्म्म उपासना एवं ज्ञान के द्वारा त्रिविध शुद्धि होती है । कर्म्म के द्वारा अधिभूत शुद्धि, उपासना के द्वारा अधिदैव शुद्धि एवं ज्ञान के द्वारा अध्यात्मशुद्धि सम्पादित होने पर साधक

सच्चिदानन्द स्वरूप होजाता है। * पुनः उसका जीवत्व का बन्धन नहीं रहता है। कर्म्म के साथ स्थूल जगत् का सम्बन्ध रहने से निष्काम कर्म्मद्वारा परमात्मा की सत् सत्ता की उपलब्धि होती है। निष्काम कर्म्मयोगी साधक अपनी सत्ता को धीरे धीरे विस्तार करताहुआ परमात्मा की विश्वव्यापिनी सत् सत्ता के साथ एकीभूत करता है। उसका जीवन विश्वजीवन के साथ मिलजाता है। भगवान् के विराट् आधिभौतिक भाव को वह उक्त प्रकार से अनुभव करता है। उपासना के साथ परमात्मा के आनन्दभाव का विशेष सम्बन्ध रहने से योगीभक्त विषयानन्द से विरत होकर संसार तरु के मूल कारण आनन्दकन्द भगवान् के ही चरणकमलों की शरण होताहुआ उनकी व्यापक आधिदैवभावमय आनन्द सत्ता की उपलब्धि करता है। ज्ञान के साथ परमात्मा की चित् सत्ता का सम्बन्ध होने से साधक स्वाध्याय के बल से वेदादि ज्ञानगर्भ शास्त्रों का गम्भीर तत्त्व हृदयङ्गम करता हुआ पूर्णज्ञान प्राप्त होकर अध्यात्मभावमय चित् भाव की उपलब्धि करता है। इस प्रकार कर्म्म योगद्वारा आधिभौतिक शुद्धि,

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥
मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप ! ।
कर्म्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम ! ॥

इति स्मृतिः ।

उपासना के द्वारा आधिदैविक शुद्धि एवं स्वाध्यायद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि लाभ करता हुआ त्रिविधभावमय सच्चिदानन्द की उपलब्धि करके साधक निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठित होता है ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिमार्ग में त्रिविध शुद्धि का उपाय वर्णन किय जाता है :—

अन्य मार्ग में अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपजन एवं भावशुद्धि द्वारा होती है ॥ २६ ॥

प्रवृत्तिमार्ग में अध्यात्मविचार, शक्तिपूजा एवं भावशुद्धि द्वारा त्रिविध शुद्धि सम्पादित हुआ करती है। समस्त कार्य्यों की आध्यात्मिक कारणान्वेषण प्रवृत्ति का नाम अध्यात्मचिन्तन है । धर्म्मशक्ति जीव की जीवनधारा को नियमित करके जगत् के आदिकारण सच्चिदानन्द समुद्र की ओर प्रवाहित करती है इसी कारण मनुष्य के प्रत्येक आचार व्यवहार और कार्य्यकलापों में भी आध्यात्मिक सम्बन्ध विद्यमान है । प्रत्येक कार्य्य ही धर्म्मभाव के विरुद्ध अनुष्ठित होने पर अधोगति का एवं प्रकृति-प्रवाह के अनुकूल होने पर मुक्ति का कारण होता है। जैसे बीज में वृक्ष की पूर्ण शक्ति रहती है वैसेही प्रत्येक कार्य्य में भी मोक्षप्रदायिनी शक्ति निहित है उसके तत्त्व का अनुसन्धान करतेहुए आत्मोन्नति करनाही अध्यात्मचिन्तन है। इस

अध्यात्मचिन्तनशक्तिपूजनभावशुद्धिभिरितरत्र ॥ २६ ॥

के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। श्रीभगवान् के स्थूल सूक्ष्म शक्तिसमूह की इष्टसम्बन्ध से पूजा करने का नाम शक्तिपूजन है। सर्व्वव्यापक सर्व्वशक्तिमान् श्रीभगवान् की शक्ति के सर्व्वतोव्याप्त होने पर भी केन्द्रभेद से उसका विशेष विकाश हुआ करता है। इस प्रकार से विकाशप्राप्त दैवी शक्ति देवदेवीरूप से जगतीतल में बहुधा फलदायिनी होती है। उनके प्रति पूज्यत्व बुद्धि के द्वारा अधिदैवशुद्धि-लाभ होता है। नैसर्गिक तीव्र वासना से प्राप्त भोग्यवस्तु का भाव-शुद्धि के द्वारा सदुपयोग करने पर भावशुद्धि होती है। वासना का धर्म्म यह है कि चित्त को पुनः पुनः वासित करके मनुष्य को अधिकरूप से संसारपङ्क में निमग्न करती है इसी कारण वासनाशील जीव भोग के द्वारा वासना की निवृत्ति नहीं करसक्ता है। वह घृताहुत वह्नि की तरह पुनः वर्द्धितायतन ही होती रहती है। इस कारण सुकौशलपूर्ण साधना का अवलम्बन किये विना नैसर्गिक वासनापरायण मनुष्य की उन्नति नहीं होती है। यह साधना ही साधनराज्य में भावशुद्धि नाम से कही जाती है। दृष्टान्त दिया जाता है कि यदि भाग्यवशात् किसी उपादेय भोज्य वस्तु की प्राप्ति हो तो उसको लोभ-पूर्व्वक रसना की तृप्ति के अर्थ भोग करने से वासना की वृद्धि और बन्धन होगा। किन्तु वह भोज्य वस्तु यदि भगवान् को अर्पण करके उनके प्रसादरूप से भोजन की जाय अथवा अतिथि को प्रदान करके यज्ञावशेषरूप

से भोजन कीजाय तो ऐसा होने से फिर उस भोज्य वस्तु का उपभोग बन्धन का कारण नहीं होगा। वह भावशुद्धि के बल से मुक्ति का ही सहायक होगा। इस प्रकार प्रारब्ध-लब्ध वासनाबीजमय सकल वस्तुओं के प्रति भावशुद्धि का उपयोग होने पर आधिभौतिक शुद्धिलाभ होता है। इस प्रकार से अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन एवं भावशुद्धि के द्वारा प्रवृत्तिमार्गपरायण साधक धीरे धीरे उन्नतिलाभ करते रहते हैं ॥ २६ ॥

प्रवृत्तिमार्ग के अवलम्बन से त्रिविध शुद्धिलाभ का फल क्या है ?

इसके द्वारा वह प्राप्त की जाती है ॥ २७ ॥

प्रवृत्ति के वैधसेवन से साधक निवृत्तिलाभ करने में समर्थ होता है । निवृत्तिमार्ग के अवलम्बन से साधक पराभक्ति लाभ करताहुआ साक्षातरूप से निःश्रेयस पदवी को प्राप्त होसक्ता है। वह वासनागन्धलेशविहीन होने से जीव के जीवत्वपरिहार में अनायास ही साक्षात् हेतुभूत होता है। परन्तु प्रवृत्तिपथ में इस प्रकार की सुबिधा नहीं पाईजाती। प्रवृत्ति में स्वाभाविकी वासनाप्रवणता रहने से सावधानतापूर्व्वक वैध आचरण न होने पर नैसर्गिकी वासना क्रमशः बलवती होकर जीव की अधोगति करती है। इस कारण प्रवृत्तिपथ के अधिकारी साधक को गुरू-पदिष्ट पन्थानुसार इस प्रकार के भाव से कर्म्म करना होता

एतया तल्लाभः ॥ २७ ॥

है जिससे धीरे धीरे वासना का तिरोधान हो। यही पूर्व्व सूत्र में अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन और भावशुद्धि नाम से आख्यात हुआ है। उक्त उपायत्रय के अवलम्बन से त्रिविध शुद्धि सम्पादित होने पर प्रवृत्तिमार्गीय साधक भी निवृत्ति पथ का अधिकारी होकर अमृतत्व लाभ कर सक्ता है। इस कारण ही उपनिषदों में और भगवान् मनु ने भी कहा है कि विधिविहित साधना के द्वारा हृदय की वासनाग्रन्थि भिन्न होने से ही मर्त्य जीव अमृतत्व लाभ करसक्ता है ॥ २७ ॥ *

दोनों मार्गों का स्वरूप वर्णन कियाजाता है :—

प्रवृत्ति नैसर्गिकी और निवृत्ति परमफलदायिनी है ॥ २८ ॥

मनुष्य की प्रवृत्तिमार्ग में स्वभाव से ही गति होती है परन्तु निवृत्ति का फल महान् है। वासना ही संसार की कारण है, जीव वासनाबद्ध होकर ही संसार में सुख दुःख भोग किया करता है। कैवल्योपनिषद् में कहा है कि जीवात्मा मायाद्वारा मुग्ध होकर शरीररूप उपाधि के संयोग से सब कार्य्य ही किया करता है। जाग्रत् दशा में स्त्री अन्न पानादि विचित्र भोगों के द्वारा उसकी परितृप्ति होती है।

---

* यदा सर्व्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
"तेषु सम्यक् वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।"
प्रवृत्तिर्नैसर्गिकी महाफला निवृत्तिः ॥ २८ ॥

स्वप्न में अपने ही मायाकल्पित लोक में जाग्रद्दशागत वस्तु-समूह का मानसिक भाव से भोग हुआ करता है। सुषुप्ति काल में जाग्रद्दशागत वस्तुसमूह का विलय होजाने पर भी कारण शरीर में अविद्या परिच्छिन्न जीव को सुख भोग होता है ।* इस प्रकार माया के संयोग से जीव-प्रवृत्ति की नैसर्गिकी लीला श्रुति में वर्णित हुई है । कोई कार्य्य भी कामना न रहने से नहीं होता है, संसार कर्म्म-मय है, इस कारण प्रवृत्ति स्वाभाविक है । प्रवृत्तिमूलक अन्तर्निहित सुखेच्छा ही जीव को कर्म्ममय जीवलोक में प्रेरण किया करती है। संसारयात्रा में अनादिरूप से बहने वाली गति के साथ इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध रहने से यह स्वाभाविकी है । भगवान् मनुजी ने कहा है कि जगत् में कामनाविहीन लोगों की कहीं कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती । जो कुछ कार्य्य देखा जाता है सबही कामना के द्वारा प्रेरित है इसमें सन्देह नहीं * इस प्रकार श्रुतिस्मृति

---

* स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्व्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता
स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥

* अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥

में प्रवृत्ति का नैसर्गिकत्व वर्णित हुआ है; परन्तु प्रवृत्ति के स्वाभाविक होने पर भी निवृत्ति महाफलप्रसवित्रिनी है। श्रुति में कहा है कि कर्म्म, प्रजा वा धन के द्वारा अमृतत्व प्राप्ति नहीं होती है केवल त्याग के द्वाराही अमृतत्वप्राप्ति होती है। * श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि ज्ञानवान् लोग भी प्रवृत्ति के वश में होकर तदनुरूप कार्य्य करते हैं। जीव प्रकृति के ही स्रोत में बहता रहता है, निग्रह से क्या फल होगा ? † यह बात कहते ही परवर्त्ती श्लोक में कहते हैं कि तो क्या प्रवृत्ति का दास बनना होगा ? कदापि नहीं। इन्द्रियसमूह का अपने अपने अनुकूल विषय में राग एवं प्रतिकूलविषय में द्वेष है, इनके वशवर्त्ती होना कदापि कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार का राग द्वेष मोक्षमार्ग का परिपन्थी (रोधक) है। ‡ मुमुक्षु को महाफला निवृत्ति ही अनुसरणीय है। गीता में कहा है कि इन्द्रियों से विषयों के संस्पर्श द्वारा उत्पन्न सब प्रकार के भोग दुःख प्रदान ही करते रहते हैं, वे आदि-अन्त विहीन केवल मध्य में उत्पन्न होनेवाले क्षणिक

---

* न कर्म्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेनाऽमृतत्वमानशुः।

† सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

‡ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

सुखदमात्र हैं इस कारण विवेकी जन इस प्रकार के सुख में मुग्ध नहीं होते हैं। जो आजन्म काम एवं क्रोध के वेग को धारण करसक्ता है वही योगी है और वही सुखी है।* मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि कामनाविहीन पुरुष ही परब्रह्म की उपासना द्वारा उन (परब्रह्म) को प्राप्त होसक्ता है। जो व्यक्ति कामनापरायण हैं उनकी गति कामना के अनुसार ही भिन्न भिन्न लोकों में हुआ करती है; परन्तु पर्य्याप्तकाम कृतात्मा पुरुष को इहलोक में ही सकल कामनाओं का विलय होकर निःश्रेयस प्राप्ति होती है। ज्ञानतृप्त, प्रशान्तचित्त व वीतराग ऋषिगण निवृत्ति पथावलम्बी होकर सर्व्वतोव्याप्त परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। † इसी प्रकार श्रुति ने निवृत्ति की महिमा

---

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

† उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः।
कामान्यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्व्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्व्वमेवाऽऽविशन्ति॥

कीर्त्तन की है । मनुसंहिता में लिखा है कि जो समस्त कामनाओं के विषयों को प्राप्त हुआ है एवं जो सकल काम्य विषय त्याग करता है, इन दोनों में से त्यागवान् पुरुष ही श्रेष्ठ कहाजाता है । चर्म्मपात्र बहुच्छिद्रमय न होने पर भी एक छिद्र के दोष से जिस प्रकार जलमग्न होजाता है उसीप्रकार इन्द्रियगण में से एक इन्द्रिय भी स्खलित हो तो परमज्ञान नष्ट होजाता है । इस कारण इन्द्रियसमूह को अधीन रखकर मनको संयत करतेहुए उपायों के बल से देह को पीड़ा न देकर सकल पुरुषार्थ साधन करना उचित है । * महर्षि पतञ्जलि ने स्वप्रणीत योगदर्शन में प्रवृत्तिजनित सुख के दुःखत्व वर्णनप्रसङ्ग में कहा है कि विषयसुख के साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख एवं गुणवृत्तिविरोधजनित दुःखों के मिश्रित रहने से विवेकीगण विषयसुख को दुःख ही समझते हैं । † इसी सूत्र के भाष्य में श्रीभगवान् व्यासदेव ने आज्ञा की है कि भोग के द्वारा तृप्ति होने के कारण

* यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्व्वान्यश्चैतान् केवलाँस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्व्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥
इन्द्रियाणान्तु सर्व्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनाऽस्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्व्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥

† परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्व्वं विवेकिनः ।

इन्द्रिय की जो शान्ति होती है वही सुख है और चाञ्चल्य के कारण जो अशान्ति वही दुःख है; परन्तु भोग के द्वारा इन्द्रिय की कभी भी शान्ति नहीं होती है क्योंकि भोग वासना को घृताहुत वह्नि की तरह वर्द्धित ही करता रहता है अतएव भोगाभ्यास और इन्द्रियपरता सुख के कारण नहीं हैं। जिस प्रकार वृश्चिकविष के भय से भीत मनुष्य सर्पदष्ट होने पर अधिकतर यन्त्रणा पाता है उसी प्रकार भोग के द्वारा वासना निवृत्त करने को जाकर जीव अधिकतर दुःखभागी ही हुआ करता है। * इसी कारण ही शास्त्रों में त्याग और निवृत्ति की महिमा वर्णित हुई है। विष्णुपुराण में लिखा है कि समस्त पृथिवी में जितना कुछ धन, धान्य, पशु और स्त्रियें हैं यदि सब एक मनुष्य को दीजायँ तथापि उसकी तृप्ति नहीं होती है अतएव शमता का अवलम्बन करनाही श्रेयस्कर है। † महाभारत में वर्णित है कि पृथिवी में जो कामजनित सुख है अथवा

---

* या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखं या च लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्त्तुं शक्यं कस्माद्यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाऽभ्यास इति स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाऽऽशीविषेन दष्टो यः सुखार्थी विषयाननुवासितो महति दुःखपङ्के मग्न इति ।

† यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नाऽलमेकस्य तत्सर्व्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

स्वर्ग में जो महत्सुख है वासनाक्षयजनित सुख के सोलह अंशों मेंसे एक अंश के समान भी वह नहीं है। यतिगण चित्त-प्रसाद लाभ करके शुभाशुभ का त्याग करते हैं एवं प्रसन्नात्मा होकर आत्मा में ही अवस्थिति करके परमानन्द लाभ करते हैं। ग्रामवासिगण की जो तुच्छ ग्राम्य धर्म्म में आसक्ति है वही संसारबन्धन की रज्जु-स्वरूपा है। पुण्यवान् पुरुष उस रज्जु को छिन्न करसक्ते हैं किन्तु पापी उसको छिन्न नहीं करसक्ते। * संसार में सुख की अपेक्षा दुःखही अधिक है इसमें सन्देह नहीं। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति, मोहवशात् मृत्यु में अनिच्छा और अप्रियता ये सबही दुःखप्रद हुआ करते हैं। जो सुख, दुःख इन दोनों को ही त्याग करसक्ता है वही आत्यन्तिक सुख रूप ब्रह्मानन्द लाभ करता है। पिपासा का अन्त नहीं है एवं तुष्टि परमसुख है इस कारण पण्डितगण सन्तोष को ही श्रेष्ठ धन माना करते हैं। संसार में आसक्तचित्त विषयसुखान्वेषी जीव को वासना की पूर्त्ति के पहले ही व्याघ्र जिस प्रकार पशु को लेजाता है उस प्रकार मृत्यु

---

* यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥
चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाऽशुभम् ।
प्रसन्नाऽऽत्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ।
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतारतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥

ग्रास करता है । इस प्रकार विषयों का सर्व्वथा दुःखमूलकत्व विचार कर निवृत्ति पथावलम्बी होना उचित है । विचारवान् पुरुष धृति के द्वारा शिश्नोदर के वेग को धारण करते हैं, चक्षुद्वारा पाणि और पादेन्द्रिय का, मनके द्वारा चक्षु और श्रवणेन्द्रिय का एवं विद्या की सहायता से मन और वाक्य का वेग धारण करते हैं । इस प्रकार से जो निवृत्तिमार्गपरायण होकर समस्त इन्द्रियों का वेग रोकता हुआ स्तुति और निन्दा में समभावापन्न होकर विचरण करता है वही सुखी है और वही पण्डित है ।* यही निवृत्ति का महाफल है ॥ २८ ॥

---

* सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नाऽत्र संशयः ।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाऽप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं तं न शोचन्ति पण्डिताः ॥
अन्तो नाऽस्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥
सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवाऽऽसाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥
तथाऽप्युपायं संपश्येद्दुःखस्य परिमोक्षणम् ।
अशोचन्नारभेच्चैव मुक्तश्चाऽव्यसनी भवेत् ॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च ।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥

अब साधक का अधिकार निर्णीत होता है :—

कर्म्मासक्त अज्ञ पुरुषों का बुद्धिभेद अहितकर है ॥ २६ ॥

कर्म्ममार्ग में अनुरक्त अज्ञ पुरुषों का बुद्धिभेद करने से अमङ्गल हुआ करता है। साधनमार्ग में अधिकार प्राक्तन कर्म्मविपाकजनित होने से प्रवृत्तिपरायणता अथवा निवृत्तिबहुलता प्रकृतिगत हुआ करती है। इस कारण पूर्व्वसंस्कारानुसार जिसकी जिस मार्ग पर रुचि हो उसमें हस्ताक्षेप करने से अनिष्ट फल उत्पन्न हुआ करता है क्योंकि जिसकी जिस मार्ग में रुचि प्रकृतिगत हो उसका अधिकार तदपेक्षा भिन्न होना असम्भव होने से भिन्न-पथानुगत उपदेश उसके लिये हितकर न होकर अहित साधनाही करता है। पूर्व्व कर्म्मानुसार जो साधक प्रवृत्तिपरायण एवं सकाम कर्म्म में आसक्त है उसकी उन्नति साधन करना हो तो उसको सकाम मार्ग का ही उपदेश देकर भाव-शुद्धि आदि उपायों के साथ क्रमशः निष्काम मार्ग में उसकी गति का सन्निवेश करना विचारवान् ज्ञानी गुरु का कर्त्तव्य है। अन्यथा पूर्णरूप से सकाम कर्म्मासक्त मनुष्य को निष्काम मार्ग का उपदेश करने पर उसका बुद्धिभेद होगा एवं उससे उसका कुछभी उन्नति साधन न होकर अवनति ही साधिता होगी। इस

अहितं कर्म्मासक्ताऽज्ञानां बुद्धिभेदात् ॥ २६ ॥

प्रकार से वह "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" होकर अवनतिकर मूढदशाग्रस्त होगा इसमें सन्देह नहीं। इस कारण ही श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि अज्ञ कर्म्मासक्त जनगण का बुद्धिभेद करना नहीं चाहिये। विद्वान् पुरुष स्वयं अनुष्ठान करतेहुए उनको स्वाधिकारानुरूप क्रमोन्नतिकर कर्म्ममार्ग में ही प्रवृत्त कराते हैं। * यही वेदानुमोदित सनातन पन्था है॥ २९॥

ऐसे अवसर में क्या करना चाहिये सो उपदेश किया जाता है:—

तदुपयुक्त उपदेश कल्याणकर हुआ करता है॥३०॥

प्रवृत्तिपरायण जनगण के लिये अधिकारानुरूप उपदेश ही कल्याणप्रद हुआ करता है। निवृत्ति साक्षात् मोक्षदायिनी होने पर भी उस मार्ग में चलनेवाले ज्ञानिगण की प्रज्ञा बहुत्वविधुरा और एकत्वानुसेविनी होती है; परन्तु प्रवृत्तिमार्ग्गीय अधिकारिगण की बुद्धि बहुभेदभिन्ना होती है। इस कारण प्रवृत्तिनदी बहुवाहिनी होकर विविध अधिकारों के अनुसार साधक का अभीष्ट साधन किया करती है। अतएव जिस साधक को जिस प्रकार का ज्ञान शक्ति प्रकृति और अधिकार प्राक्तन कर्म्मविपाक से प्राप्त हुआ है उसको तदनुसार ही यथायोग्य त्रिविध शुद्धि

---

* न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्व्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

तदुपयुक्तोपदेशात्पथ्यम्॥ ३०॥

साधक प्रवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय उपदेश दान करने पर उसके लिये सम्पूर्ण कल्याणकर एवं अभ्युदय निःश्रेयसकर होगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है । इसकारण ही श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है कि प्रकृति के अनुकूल कार्य्य करने पर साधक पापग्रस्त नहीं होता है प्रत्युत प्रकृतिप्रवृत्त्यनुसार धर्म्ममार्गनिरत साधक स्वाधिकार की सिद्धि प्राप्त किया करता है * ॥ ३० ॥

आशङ्का का समाधान कियाजाता है :—

वैषम्य के कारण असिद्धि की आशङ्का नहीं हो सक्ती है क्योंकि लक्ष्यैक्य है ॥ ३१ ॥

साधक एवं साधन का वैषम्य होने से सिद्धि एक प्रकार की नहीं होसक्ती है इसतरह की आशङ्का निष्प्रयोजन है क्योंकि सबका लक्ष्य एक है । प्रवृत्ति और निवृत्ति का साधन भिन्न भिन्न प्रकार का है, अधिकारिभेद होने से साधनमार्गभी बहुत प्रकार के हैं, तब सबका फल एक ही प्रकार का कैसे होसक्ता है ऐसी आशङ्का निर्मूलक है क्योंकि सकल साधनों का ही लक्ष्य एक प्रकार का है । विभिन्न-पथवाहिनी सकल स्रोतस्विनी एकही समुद्र में विलीनता प्राप्त होती हैं । स्व स्व प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार जो जो ही करें सबही जब भगवद्भक्ति लाभ के

* स्वभावनियतं कर्म्म कुर्व्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।
स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

वैषम्यादसिद्धमिति चेन्न लक्ष्यैक्यात् ॥ ३१ ॥

अर्थ प्रयत्न करते हैं, सबकी ही इच्छा जब आध्यात्मिक उन्नति साधन की ओर है, सबका ही लक्ष्य जब अभ्युदय और निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठित होने के अर्थ है तब साधनभेद होने पर भी लक्ष्य एक होने से कोई भी उन्नति लाभ का परिपन्थी (बाधक) नहीं होगा । देश काल और प्रकृति की विभिन्नता के कारण साधनों में भेद रहने पर भी यथाविधि सर्व्वविध साधनों के द्वाराही साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगा इसमें सन्देह नहीं । इसी कारण ही महिम्नस्तोत्र में कहागया है कि रुचिवैचित्र्य के कारण त्रयी, सांख्य, योग, पशुपतिमत, वैष्णवमत आदि ऋजु और कुटिल नाना साधनमार्गों का विधान होने पर भी सकल नदियों का गन्तव्य स्थल जिस प्रकार एकही समुद्र होता है उसी प्रकार सकल साधनाओं का लक्ष्यस्थल एक ही आनन्दमय परमात्मा हैं * अतएव वैषम्यदोष कदापि हानिकर वा सन्देहजनक नहीं है ॥ ३१ ॥

साधन का निरूपण करते हुए उस साधन में उपलभ्यमान ऐश्वर्य्य के विषय में कहाजाता है :—

परमपुरुष में विशेषता होने के कारण ऐश्वर्य्यदोष स्पर्श नहीं करता है ॥ ३२ ॥

---

* त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

नैश्वर्य्यदोषः परास्मिन् विशेषात् ॥ ३२ ॥

भगवान् ऐश्वर्य्यवान् होने पर भी उनको ऐश्वर्य्य-दोष स्पर्श नहीं करसके क्योंकि उनका ऐश्वर्य्य स्वाभाविक है। साधनदशा में जो कुछ ऐश्वर्य्य लाभ होता है वह ऐश्वरीय ऐश्वर्य्य का ही कणामात्र है अतएव समग्र ऐश्वर्य्य के आकर, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य के आधार भगवान् * को, जिस प्रकार साधक को ऐश्वर्य्य का दोष स्पर्श करता है उस प्रकार क्यों नहीं करेगा ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर यही है कि जीव का ऐश्वर्य्य लौकिक हो अथवा अलौकिक हो जो कुछ भी क्यों न हो सब सहेतुक एवं तपोबल वा साधनबललभ्य होगा इस कारण वह दोषावह होसक्ता है; परन्तु अनन्त वैभवशालिनी प्रकृति माता जिनकी अर्द्धाङ्गिनी और आज्ञाकारिणी है इस प्रकार के सर्व्वशक्तिमान् भगवान् † के समस्त ही ऐश्वर्य्य नैसर्गिक होने से उनमें दोष स्पर्श नहीं कर सक्ता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उनके इस ऐश्वर्य्य के सम्बन्ध में बहुधा वर्णन देखा जाता है। वे शक्तिमान् के भी ऊपर महाशक्तिमान् हैं, वे देवतागण के भी परमदेवता हैं, वे पति के भी परमपति हैं, वे भुवनेश हैं एवं वे परमपूजनीय हैं। उनका कोई कार्य्य वा कारण नहीं है, उनके समान वा तदपेक्षया अधिक कोई नहीं हैं, वे विविधरूपा परमशक्ति

---

* ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥

† मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।

द्वारा सुशोभित हैं एवं वे नैसर्गिक ज्ञान बल क्रियासम्पन्न हैं * अतएव उनको ऐश्वर्य्यदोष स्पर्श नहीं करते हैं॥३२॥

जीव के ऐश्वर्य्य के विषय में वर्णन कियाजाता है:—

अविशेष में उस भाव के अभाव होने से उस प्रकार नहीं होसक्ता है ॥ ३३ ॥

सर्व्वशक्तिमान् भगवान् का ऐश्वर्य नैसर्गिक और नित्य होने पर भी अल्पशक्ति जीव में उस प्रकार नहीं है। भगवान् में ऐश्वर्य्य और शक्ति की पूर्णता है। उनकी ही शक्ति और ऐश्वर्य्य से बलवान् होकर देवता, ऋषि और पितृगण यथाधिकार संसार की रक्षा करते रहते हैं। पूर्ण शक्तिमान् भगवान् के ऐश्वर्य्य में कदापि न्यूनाधिक्य भाव नहीं होता है परन्तु जीव का ऐश्वर्य उस प्रकार का नहीं है। जीव में देश और काल के अनुसार ऐश्वर्य्य की हीनता वा अधिकता हुआ करती है। तपस्यादि के द्वारा

---

* तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमञ्च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

अविशेषेषु न तथा तद्भावाऽभावात् ॥ ३३ ॥

जीव ऐश्वर्य्य प्राप्त करसक्ता है परन्तु हिंसादि अनुचित आचरण करने पर पुनः ऐश्वर्य्य का तिरोधान होजाता है। तद्व्यतिरिक्त ऐश्वर्य्य के एक प्रकार से सम्पत्ति होने के कारण वह प्रायः ही साधक को मुग्ध करके अवनतिग्रस्त करता है । ऐश्वर्य्यपरायण साधक आध्यात्मिक उन्नति नहीं करसक्ता है । विषयी मनुष्य की तरह उसमें ही लिप्त होकर अविद्याकूप में निमग्न होता है। इस कारण बुद्धिमान् लोग सर्व्वदा ऐश्वर्य्य की निन्दा किया करते हैं॥३३॥

ऐश्वर्य्य कितने प्रकार का है सो वर्णन कियाजाता है:—

यह चार प्रकार का है ॥ ३४ ॥

पूर्व्व कथित ऐश्वर्य्य चतुर्धा विभक्त है । यथा:— आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं साहजिक। आधिभौतिक ऐश्वर्य्य लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है । सांसारिक ऐश्वर्य्य लौकिक एवं रसायन कल्प आदि से उत्पन्न ऐश्वर्य्य अलौकिक है । औषधि प्रयोग के द्वारा जो ताम्र सुवर्ण होजाता है एवं वृद्ध यौवन और दीर्घायु प्राप्त करता है ये सब अलौकिक ऐश्वर्य्य के ही दृष्टान्त हैं । आधिदैविक ऐश्वर्य्य मन्त्र और तपस्या द्वारा प्राप्त हुआ करता है । योगदर्शन में लिखा है कि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप एवं समाधिद्वारा सिद्धिलाभ होता है । * आधिदैविक ऐश्वर्य्यसम्पन्न व्यक्ति दैवबल

तच्चतुर्विधम् ॥ ३४ ॥

* जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥

से बलवान् होकर अनेक अलौकिक कार्य्य साधन कर सक्ता है। यह मलिन और शुद्ध भेद से द्विधा विभक्त है। त्रिविध यज्ञों के द्वारा आध्यात्मिक ऐश्वर्य्य लाभ होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकाश इसका लक्षण है। वेदादि का आविर्भाव ईदृश ऐश्वर्य्यशाली ऋषियों के पवित्र अन्तः-करण में हुआ करता है। साहजिक ऐश्वर्य्य जीवन्मुक्त-दशा में स्वतः ही प्राप्त हुआ करता है। पराभक्तियुक्त जीवन्मुक्त महापुरुष जब आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवभाव का परिहार करते हैं तब उनके व्यष्टि अहङ्कार का नाश होने से वे विराट्केन्द्र के द्वारा भगवदिङ्गितानुसार ही चालित होते हैं। उस समय में जगत्-कल्याण-सम्पादनार्थ उनमें जो सब सिद्धियों का आविर्भाव होता है उनका नाम साहजिक सिद्धि हैं। * इस रीति से सिद्धि चार प्रकार की हैं॥ ३४॥

* चतुर्विधाः सिद्धयः स्युः प्राप्या या योगवित्तमैः।
आध्यात्मिकी चाऽधिदैवी सहजा चाऽधिभौतिकी॥
औषधिमन्त्रतपोभिः प्राप्यन्ते सिद्धयः सर्व्वाः।
स्वरोदयेनाऽपि तेषां संयमेनेति निश्चयः॥
इत्थं चतुर्विधा भेदाः सिद्धेः प्रोक्ता मनीषिभिः।
भौमस्थूलपदार्थानां सिद्धिः स्यादाधिभौतिकी॥
दैवशक्तिसमापत्तिर्यत्र सा चाऽधिदैविकी।
आध्यात्मिकी च विज्ञेयाः प्रज्ञासम्बद्धसिद्धयः॥
उन्नतश्चाऽधिकारोऽस्याः परमः प्रोच्यते बुधैः।
आविर्भावो हि वेदानां जायते यत्र निश्चितम्॥
सहजाः सिद्धयः प्रोक्ता जीवन्मुक्तस्य सिद्धयः।
सिद्धेर्हि बहवो भेदा निर्दिशन्तिस्म योगिनः॥

ऐश्वर्य्य विषयक आशङ्का का समाधान कियाजाता है:—

लक्ष्य स्थिर होने पर इसका क्या प्रयोजन है इस प्रकार की शङ्का होना उचित नहीं है क्योंकि प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है ॥ ३५ ॥

जब साधना का लक्ष्य नित्य सिद्ध है तब क्षणभंगुर ऐश्वर्य्य का क्या प्रयोजन है इस प्रकार की आशङ्का ठीक नहीं है क्योंकि संसार में प्रकृतिभिन्नता के कारण रुचि-भिन्नता भी हुआ करती है । जब भगवान् के प्रति भक्ति ही मुक्तिदान किया करती है एवं यही मनुष्यजीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य है तो ऐश्वर्य्य की आकांक्षा और अपेक्षा क्यों होती है इस शङ्का का समाधान कियाजाता है। संसार में सबकी प्रकृति समान नहीं होती है। पर वैराग्य-परायण भक्तिमान् वीतराग पुरुष सामान्य ऐश्वर्य्य आदि के प्रति उपेक्षा किया करता है । वेद में कहा है कि ऐश्वर्य्य लोभी साधक अवनति के अन्धकार में निमग्न हुआ करता है । * परन्तु उच्च अधिकारी के लिये ऐश्वर्य्य उपेक्षा की वस्तु होने पर भी सामान्य अधिकारी के लिये वे आध्या-त्मिकमार्ग के प्रेरक हुआ करते हैं । जिस प्रकार मिष्टान्न के द्वारा भुलाकर बालक को विद्याभ्यास कराया जाताहै उस प्रकार साधारण अधिकारी के लिये ऐश्वर्य्य विश्वास

लक्षितलक्ष्येषु किमिति चेन्न प्रकृतिभेदात् ॥ ३५ ॥

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

वर्द्धक एवं चित्त-संयोगविधायक हुआ करते हैं। ऐश्वर्य्य की माधुरी देखकर साधक आध्यात्मिक मार्ग में विशेष विश्वासपरायण होता है एवं उससे उसकी उन्नति के विषय में सहायता हुआ करती है। इस कारणही योगदर्शन में लिखा है कि सिद्धिसमूह समाधि के विषय में विघ्नजनक हैं परन्तु व्युत्थानदशा में हितकर हैं।* अतएव इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ ३५ ॥

सब साधनों के चरमफलरूप मुक्ति का उपाय दिखाया जाता है :—

समर्पण के द्वारा मुक्ति हुआ करती है ॥ ३६ ॥

समर्पण के द्वारा जीव का बन्धन-मोचन होता है एवं मोक्षलाभ होता है। ज्ञानभूमि के अनुसार सातों दर्शनों में पृथक् पृथक् मुक्ति का उपाय वर्णन कियागया है। चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होनेसे ही जीव की मुक्ति होती है यह योगदर्शन-विज्ञान का सिद्धान्त है। इसी प्रकार साङ्ख्य न्याय आदि दर्शनों में भी अपनी अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार मुक्ति का सिद्धान्त कहागया है। इस दर्शन का सिद्धान्त यह है कि समर्पण के द्वारा मुक्ति होती है। अहङ्कार ही जीव के जीवभाव का कारण है। ममतापाश में बद्ध होकर जीव सांसारिक क्षुद्र स्वार्थ में अपने स्वरूप को विस्मृत होता

* ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥

मुक्तिः समर्पणात् ॥ ३६ ॥

हुआ विजडित हो पड़ता है। परमात्मा सर्व्वव्यापक एवं देश काल द्वारा अपरिच्छिन्न होने पर भी अहङ्कार वा अहन्तामूलक स्वार्थ जीव के केन्द्र को देश काल परिच्छिन्न करडालता है। वह देह एवं इन्द्रियादि को सुख का कारण समझकर इतने में ही अपने को केन्द्रीभूत कर रखता है इस कारण उसका जीवभाव वा बन्धन विनष्ट नहीं होता है। किन्तु जब जीव उसका जो कुछ है सबही भगवान् को समर्पण करसके अर्थात् जिस पदार्थ ने उसको संसार में बद्ध करके उसके केन्द्र को छोटा करके रक्खा था उसको भगवान् की व्यापकसत्ता में विलीन करदे तब पुनः उस के लिये "हमारा" कहकर निर्देश करने को कुछ न रहने से वैषयिक अहन्ता वा ममता पूर्णरूप से विगलित होजाती है। ममता नष्ट होने से ही देश काल परिच्छिन्न जीवभाव फिर नहीं रहता है क्योंकि उसने ही उसके केन्द्र को देश काल परिच्छिन्न करके उसकी सत्ता को विराट् की व्यापकसत्ता से पृथक्भावापन्न कर रक्खा था अतएव उसके नाश से जीवत्व का नाश होता है एवं जीव की मुक्ति होती है। श्रीभगवान् सर्व्वव्यापक हैं और जीव अहङ्कृत होने से देश काल परिच्छिन्न है। जीवमें का अहङ्कार दूर होते ही जीव भगद्भाव को प्राप्त होता है। भक्तव्यक्ति अपना सब कुछ श्रीभगवान् को समर्पण करता है तभी वह अहङ्कार का लय करता हुआ ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। वह अपनी सत्ता को सच्चिदानन्दभाव में

विलीन करके निःश्रेयसपदवी में परमानन्दपद को लाभ करता है। शास्त्रों में इस परमकल्याणमय समर्पणभाव के अनेकानेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। उपनिषदों में कहा है कि केवल उसी करुणामय भगवान् को जानो, उसके अतिरिक्त और कहीं भी मन मत लगाओ और न कुछ बात कहो, अमृतत्व लाभ का यही एकमात्र उपाय है। * श्रीभगवान् ने गीताजी में आज्ञा की है कि मेरी गुणमयी दैवी माया नितराम् दुरत्यया है जो मेरे शरणापन्न होता है वही इस माया को अतिक्रम करसक्ता है। जो सब कर्मों को मेरे में ही समर्पण करके मत्परायण होकर मेरी उपासना अनन्यमन होकर करते हैं मैं उनको शीघ्रही संसार-सागर से मुक्त किया करता हूं। हे अर्ज्जुन! तुम मन्मना, मद्भक्त और मद्याजी हो, मुझको ही नमस्कार करो। ऐसा होनेसे ही मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मुझको ही प्राप्त होगे। समस्त धर्म्म परित्याग करके केवल मेरेही शरणापन्न हो, मैं तुमको सब पापों से उद्धार करूँगा। †

* तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो
विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः।
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

† दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

श्रीमद्भागवत में वर्णन हुआ है कि शरीर, वाक्य, मन, इन्द्रिय, बुद्धि वा आत्मा के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह सबही भगवान् के समर्पण करना उचित है। साधक जब इस प्रकार अन्य समस्त कार्य्य त्याग करता हुआ भगवान् को ही सर्व्वस्व अर्पण करता है तबही उसको अमृतत्व प्राप्ति होती है एवं वह सच्चिदानन्दभाव को प्राप्त करसक्ता है। † समर्पण का भाव किस प्रकार का होगा, इस विषय में विष्णुपुराण में प्रह्लाद ने कहा है कि विषयी अविवेकी पुरुषों की जैसी अव्यभिचारिणी प्रीति विषयों में होती है आपके ध्यान में परायण इस दास की प्रीति ठीक वैसीही आप में हो। * भागवत में इस अनन्य प्रीति और

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

† कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥

* या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥

समर्पण का विषय विशदभाव से वर्णन किया है । यथाः— उसने मनको कृष्णपदारविन्द में, वचन को उनके गुण वर्णन में, हाथों को उनके मन्दिर मार्जनादि में, कानों को उनकी पुण्यमयी कथा के श्रवण करने में, नेत्रों को उनकी मधुरमूर्त्ति के दर्शन में, शरीर को उनके भृत्यों के अङ्गस्पर्श करने में, घ्राणेन्द्रिय को उनके चरणकमल की सुगन्ध के आघ्राण में, रसना को उनके प्रिय तुलसीदल के आस्वादन में, पावों को उनके क्षेत्रों (तीर्थों) में जाने में, मस्तक को उनके चरणवन्दन में एवं सकल कामना को उनके ही दासत्व में नियुक्त किया था । * यही समर्पण का भाव है । इस समय जिस विषय के साथ भगवान् का सम्बन्ध अणुमात्र भी नहीं रहता है वह वृथा

* स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
  र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
  श्रुतिं चकाराऽच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
  तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
  श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
  शिरो हृषीकेशपदाऽभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया
  यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

समझकर उपेक्षा कियाजाता है। जैसा भागवत में कहा है कि वह बात मिथ्या और अकिञ्चित्कर है जिसमें श्रीभगवान् का गुणगान नहीं है। और वही सत्य, वही मङ्गलमय एवं पुण्यमय, वही रमणीयं रुचिकर नित्य नवीन भावमय चित्त और मन की परमोल्लासकर एवं दुःखमहोदधि की पूर्णरूप से विशोषक है जिसमें श्री भगवान् का यश वर्णन कियाजाता है। † श्रीगीताजी में कहा है कि जिसके प्राप्त करने पर अन्य कोई भी लाभ उसकी अपेक्षा उत्तम नहीं प्रतीत होता है, जिसमें अवस्थित होने पर प्रारब्धजात कोई दुःख भी दुःखित नहीं करसक्ता है। * उसी परमानन्दपद में आत्मसमर्पण करने से और क्या अवशेष रहता है? इस कारण वाणी उनके गुणानुकथन में प्रवृत्त हो, श्रवण उनके गुणगान ही श्रवण करें, हाथ उनकी सेवा करें, मन उनके ही चरण-

† मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

* यं लब्ध्वाचाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥

कमल का ध्यान करे, मस्तक उनके ही निवास-निकेतन जगत् को प्रणाम करे एवं दृष्टि उनसे अधिक उनके भक्त-गण का दर्शन करे । † यही भक्ति दर्शनका समर्पण है और मुक्ति का साधक है ॥ ३६ ॥

समर्पण के भाव वर्णन करने के प्रसङ्ग में पूजा और यजन की बात कही जाती है :—

पूजा मुख्य है और यजन अन्य प्रकार का है॥३७॥

पूजा ही प्रधान एवं मुख्यसाधन है, यजन इससे अन्य प्रकार का है । भगवान् के प्रति भक्तिप्रवण होकर जिस कर्म्म का अनुष्ठान होता है वही पूजा है । इसमें समर्पण बुद्धि की प्रधानता है । इसके अतिरिक्त जो सब अनुष्ठान क्रियाप्रधान हैं एवं जिनमें कर्म्मशक्ति की प्रधानता है वे ही यजनपद वाच्य हैं । इस दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार पूजा की श्रेष्ठता एवं यजन की गौणता प्रतिपन्न हुई है । शास्त्रों में पूजोपचार इक्कीसप्रकार के कहेगये हैं । यथाः—आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वसन, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, नीराजन,

---

† वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्म्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दरशनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥

विशिष्टा पूजा यजनमितरत् ॥ ३७ ॥

नमस्कार, एवं विसर्जन। † इन सबका विधिपूर्व्वक अनुष्ठान करने से पूजा की सार्थकता साधित होती है। यजन अन्य प्रकार से हुआ करता है॥ ३७॥

पूजन के प्रसङ्ग में समर्पित वस्तु के प्रति अवलम्बनीय भाव का विषय बताया जाता है:—

तदर्पित वस्तु में आत्मीयत्व हो नहीं सक्ता क्योंकि ऐसा भाव उचित नहीं है॥ ३८॥

भगवान् को कोई वस्तु समर्पण कर देने पर उसमें "हमारी है" यह भाव फिर नहीं रखना चाहिये। सब साधनों में दान ही सहज साधन है एवं कलियुग में इसका प्राधान्य विशेषरूप से वर्णित हुआ है। यथा स्मृति में:—सत्ययुग का प्रधान धर्म्म तप, त्रेता का ज्ञान, द्वापर का यज्ञ एवं कलियुग में दान ही प्रधान धर्म्म है। * क्योंकि तपस्या और योगादि के अर्थ कायक्लेश होने की सम्भावना रहती

---

† उपचारा विनिर्दिष्टाः पूजायामेकविंशतिः।
आवाहनं स्वागतञ्च स्वासनं स्थापनं तथा॥
पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं वसनं चोपवीतकम्।
भूषणं गन्धपुष्पे वै धूपदीपौ तथैव च॥
नैवेद्याचमने चैव ताम्बूलं तदनन्तरम्।
माल्यं नीराजनञ्चैव नमस्कारविसर्जने॥
न तदर्पिताऽऽत्मीयत्वमनौचित्यात्॥ ३८॥

* तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

है किन्तु दानधर्म्ममें वह अपेक्षित नहीं है। इसके द्वारा सहज में ही चित्त में भक्तिभाव जाग्रत हो जाता है । परन्तु देना जैसा सहज है प्रदत्त वस्तु से आत्मीयभाव उठा लेना वैसा सहज नहीं है; प्रत्युत विशेष कठिन है । इस कारण इस दर्शनमें आज्ञा दीजाती है कि इष्टदेवको समर्पित वस्तु में आत्मीयता रखना कदापि उचित नहीं है । वैसा करने से ईश्वरपरायणता, भक्तिभाव, आध्यात्मिक उन्नति और दानधर्म्म की हानि हुआ करती है । जब लौकिक दान में आत्मीयता बुद्धि दोषजनक और दानधर्म्म विरोधी है तो पारमार्थिक भगवान् को समर्पित वस्तु में आत्मीयता नितराम् आध्यात्मिक अवनतिकर होगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३८ ॥

प्रसाद का फल वर्णन किया जाता है:—

प्रसाद के द्वारा निष्कल्मषत्व और शान्तिलाभ हुआ करता है ॥ ३९ ॥

प्रसाद ग्रहण से पाप नाश और शान्ति हुआ करती है। प्रसाद तीन प्रकार का होता है, यथा:—आत्मप्रसाद, धर्म्म-प्रसाद और पूजाप्रसाद । आध्यात्मिक आलोचना द्वारा आत्मप्रसाद लाभ हुआ करता है । आत्मा आनन्दमय है अतएव आत्मसम्बन्धीय आलोचना का साधक उसी आध्यात्मिक आनन्द को वा आध्यात्मिकप्रसाद को प्राप्त करने में समर्थ होता है । श्रीभगवान् ने गीता में कहा है

प्रसादेन निष्कल्मषत्वशान्तित्वम् ॥ ३९

कि शान्तचित्त पुरुष रागद्वेषशून्य वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करके आत्मप्रसाद लाभ किया करता है। इस प्रकार का प्रसाद प्राप्त होने से उसके सकल दुःख ही दूर होते हैं एवं उस प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही आत्मा में विश्रान्ति लाभ करती है। * महाभारत में भी वर्णन हुआ है कि चित्तप्रसाद लाभ होने पर यति पुरुष शुभाशुभादि द्वन्द्वों से मुक्त होते हैं, प्रसन्नात्मा योगी इस प्रकार आत्मा में अवस्थिति करते हुए परमानन्द प्राप्त हुआ करते हैं। सुषुप्ति की सुखमयी शान्ति अथवा निवात निष्कम्प प्रदीप की शान्तिकी ही प्रसाद के साथ तुलना हो सक्ती है। † धर्म्मसाधन के द्वारा उदित प्रसाद ही धर्म्म-प्रसाद है। साधुगण जगत् को भगवान् का रूप जानकर भगवत्सेवाबुद्धि से जगत् की सेवा करते हुए इस प्रकार का धर्म्मप्रसाद लाभ किया करते हैं। ‡ इष्टदेव की पूजा

* रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्व्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥

† चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् ।
प्रसन्नाऽऽत्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥

‡ अथ मां सर्व्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥

में समर्पित वस्तु ही पूजाप्रसाद है । इस प्रकार के प्रसाद की महिमा श्रीक्षेत्र (जगन्नाथपुरी) आदि पीठों में स्पष्टतः प्रतिभात होती है । त्रिविध ही प्रसाद त्रिभावात्मक और समशक्तिसम्पन्न हैं । इनके सेवन से पाप नाश और शान्ति लाभ हुआ करता है ॥ ३९ ॥

पूर्व्व विज्ञान का ही अनुवर्त्तन होता है:—

भाव-मुख्यता के कारण सर्व्वत्र ही फलैक्य है ॥४०॥

भाव की प्रधानता एवं समर्पित वस्तु के स्थूल मूल्य की अप्रधानता होने से सकल प्रकार के समर्पण का ही समान फल हुआ करता है । लौकिक दानकार्य्य में दाता, ग्रहीता, देय वस्तु का मूल्य वा विशेषता अथवा उसके उपयोग के अनुसार दान के फल का तारतम्य हुआ करता है । परन्तु इष्टदेव को समर्पण करने में इन सब विषयों का कोई विचार ही नहीं होता है क्योंकि सर्व्व शक्तिमान् निखिलैश्वर्य्यशाली भगवान् के निकट किसी पदार्थ के स्थूल मूल्य का समादर नहीं होता है । भावगम्य भावग्राही भगवान् के निकट केवल भाव के मूल्य का ही विचार हुआ करता है । भाव की महिमा के विषय में सकलशास्त्रों में वर्णित हुआ है कि अति सामान्य वस्तु भी शुद्धभाव से भगवान् को उद्देश्य करके समर्पण हो तो महाफल प्रसव करती है । भगवान् ने गीता में भक्तिभाव के वर्णन करने के प्रसङ्ग में कहा है कि उत्तमभाव से

सर्व्वत्र फलैक्यं भावमुख्यत्वात् ॥ ४० ॥

सामान्य पत्र पुष्प और फलादि भी अर्पण हो तो उनके द्वारा श्रीभगवान् की संतुष्टता और साधक की उन्नति होती है। * स्मृति में और भी कहा है कि संसार में सिद्धि एवं भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये भाव की अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु और कुछ भी नहीं है। समस्त जगत् भाव के ही अधीन है इस कारण ज्ञान मुक्ति आदि सबही भाव के कारण से मिलते हैं। † श्रीमद्भागवत में कहा है कि भगवान् भक्तों के भाव के अनुसार ही भिन्न भिन्न रूप धारण करके उनके निकट प्रकट होते हैं। ‡ अतएव अमूल्य अथवा अल्पमूल्य सब प्रकार के पदार्थ भावमुख्यता के

---

* पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

† भावेन लभ्यते सर्व्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद्भावावलम्बनम्॥
भावात्परतरं नास्ति येनानुग्रहवान् भवेत्।
भावादनुग्रहप्राप्तिरनुग्रहान्महासुखी॥
भावात्परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सिद्धिमिच्छताम्।
भावं हि परमं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमनुत्तमम्॥
भावेन लभ्यते सर्व्वं भावाधीनमिदं जगत्।
भावं विना महाकाल! न सिद्धिर्जायते क्वचित्॥

‡ त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज-
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

कारण समानफल प्रसव करेंगे इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार से सकल प्रकार का प्रसाद ही भावमुख्यता के कारण तुल्य फलप्रद हुआ करता है ॥ ४० ॥

अपराधभेद कहेजाते हैं:—

निमित्त, संग, गुण एवं अनपेक्षाकृत ये चार प्रकार के अपराध हैं ॥ ४१ ॥

किसी निमित्त से, दुःसङ्ग से, गुण अथवा अनपेक्षाकृत ये चार प्रकार के अपराध होते हैं । इच्छा न होने पर भी किसी आकस्मिक कारण से यदि कोई अपराध हो जावे तो उसको निमित्तकृत अपराध कहते हैं । मनुष्यों के कर्म्मों के साथ दैव जगत् का अनेक प्रकार का सम्बन्ध होनेसे अनेक अलौकिक घटना लौकिक जीवनमें संघटित होती हैं । मनुष्य अनेक समय उन सबका कारण अनुसन्धान नहीं कर सक्ता । श्रीमद्भागवतमें कहा है कि मार्ग में छोड़ देने से भी दैवबल द्वारा रक्षित होता है एवं दैवहत होनेपर घर में रहने पर भी नाश होजाता है । अनाथ भी दैवरक्षित होकर वनमें जीवित रहता है एवं घर में संरक्षित होकर भी दैवहत होने पर जीवित नहीं रहसक्ता है । *

निमित्तसङ्गगुणानपेक्षाकृताश्चत्वारोऽपराधाः ॥ ४१ ॥

* पथिच्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽभिगुप्तोस्य हतो न जीवति ॥

इस प्रकार अलौकिक कोई कारण होने से अनिच्छा होने पर भी जब जब मनुष्य के द्वारा जो अपराध होता है उसी का नाम निमित्तापराध है । कुसङ्ग के दोष से मनुष्य जो अपराध करता है वह सङ्गापराध नाम से अभिहित होता है। किसकी कैसी प्रकृति है सो उसके सङ्गी की परीक्षा करने से ही ज्ञात होजाती है। संसार में दोष अथवा गुण संसर्ग से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। * भागवत में लिखा है कि तपस्या, यज्ञ, गृहत्याग वा शास्त्रपाठ किसी के द्वारा भी मनुष्य को भगवत्प्राप्ति नहीं होती है, केवल महात्माओं के संसर्ग से ही होती है। † और भी कहा है कि महात्माओं की सेवा मुक्ति का और कामुकों का सङ्ग नरक का द्वारस्वरूप है । ‡ इस प्रकार दुःसङ्ग से जिन सब अपराधों की उत्पत्ति होती है उन्हीं का नाम सङ्गा-पराध है। महात्मा भर्तृहरिने कहा है कि एकही जल के गरम लोहे पर पड़ने से उसका नाम तक अवशिष्ट नहीं रहता है। वही पुनः पद्मपत्रों पर मोती के समान शोभाय-

---

* संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।

† रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्व्वपणाद्गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैः
विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

‡ महत्सेवाद्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।

मान होता है एवं स्वाती नक्षत्र के दिन समुद्र की शुक्ति में पड़कर वही मोती की उत्पत्ति का कारण होता है अतएव उत्तम मध्यम और अधम गुण संसर्ग से ही होते हैं। * साधक के स्वभाव दोष से जो अपराध होते हैं उन का नाम गुणकृतापराध है। स्वभाव इतना बलवान् है कि सकल गुणों को अतिक्रम करके अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। † श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि जीवगण प्रकृति के गुणों से मुग्ध होकर कर्म्ममय संसार में आबद्ध होते हैं। सबही प्रकृति के वश में हैं, निग्रह से क्या फल होगा। इस प्रकार स्वभाव के वश होकर जीव अनुकूल वस्तु में राग एवं प्रतिकूल वस्तु के प्रति द्वेष किया करता है। ‡ और इससे जो अनेक प्रकार के अपराध उत्पन्न होते हैं वे गुणकृतापराध हैं। प्रमादजन्य अपराधही अनपेक्षापराध कहाजाता है क्योंकि प्रमाद की उत्पत्ति तमोगुण से होने के कारण उसमें विपरीत बुद्धि की सर्व्वथा सम्भावना रहती है। एवं इस कारणही

* सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते,
जायन्तेऽधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतः प्रायशः॥

† अतीत्य हि गुणान्सर्व्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते।

‡ प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।
इन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ॥

कोई कारण न होनेपर भी प्रमादी मनुष्य के द्वारा अनेक प्रकारके अपराध होजाते हैं अतएव अपेक्षा न रहने पर भी अपराध होता है इससे इसका नाम अनपेक्षापराध है। इस प्रकार से अपराध के चार विभाग कियेगये हैं ॥ ४१ ॥

साधक के अधःपतन का कारण वर्णन किया जाता है:—

विग्रह, गुरु एवं प्रसाद में भौतिक, लौकिक और भोग भाव द्वारा पतन हुआ करता है ॥ ४२ ॥

विग्रह के प्रति भौतिकभाव, गुरु के प्रति लौकिकभाव एवं प्रसाद के प्रति भोगभाव रहने से साधक का पतन होता है। भगवान् के सर्व्वव्यापक होने से उनकी सत्ता सकल वस्तुओं में विद्यमान है। स्मृति ने आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्त सकल जगत् को तन्मय कहा है। * उनकी यह सत्ता साधक की श्रद्धा, विश्वास और वैदिकी क्रिया के बल से मृच्छिलादि निर्मित इष्टदेव-विग्रह के द्वारा प्रकट हुआ करती है। इस प्रकार से विग्रहादि में भगवत्कला का विकाश और आवाहन के लिये साधक की श्रद्धा भक्ति ही परम अपेक्षित वस्तु हुआ करती है। भगवान्‌का जो कोई भी विग्रह क्यों न हो, जिसके प्रति अनेक मनुष्यों की श्रद्धा-भक्ति नियोजित होती है उसके द्वारा ही भगवान् की शक्ति का विकाश हुआ करता है। अतएव जहां जिसकी बुद्धि विग्रह के प्रति भगवद्भावच्युत हुई है, उसका सर्व्वव्या-

विग्रहगुरुप्रसादेषु भौतिकलौकिकभोगभावादवपतनम् ॥ ४२ ॥

* आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं तन्मयं सकलं जगत् ।

पक सत्ता की अवमाननाजनक भौतिकभाव जो विग्रह के प्रति प्रयुक्त हुआ है, वहां साधक की आस्तिकता का नाश, भक्तिश्रद्धाहीनता का दोष और आध्यात्मिकपतन होगा इसमें सन्देह नहीं है। द्वितीयतः गुरु के प्रति लौकिक बुद्धि साधक को सिद्धि लाभ करने नहीं देती है क्योंकि "गुरु" इस विषय का तत्त्व निर्णय करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि यथार्थ गुरु परमात्मा ही हुआ करते हैं; किन्तु परमात्मा के निराकार एवं मन वाणी के अगोचर होने से जीव के लिये संसारसिन्धु के सन्तरणार्थ सहसा निराकार परमात्मा को गुरुरूप से ग्रहण करना साध्यातीत है। इस कारण जिस मानवीयकेन्द्र द्वारा परमात्माका भाव और ज्ञान प्रकटहोकर शिष्यका कल्याण-साधन करता है वही गुरुपदवाच्य है। परमात्मा ही गुरु-रूप से साधक का आध्यात्मिक उन्नतिविधान और उसके अज्ञानतिमिरान्ध नेत्र को ज्ञानालोक से उद्भासित करते हैं। इस कारण ही शास्त्रों में गुरु को साक्षात् परमेश्वर भावना से पूजा करने की आज्ञा दीगई है। स्मृति में लिखा है कि गुरु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, मुमुक्षुगण उनको इसी भावना से ही वन्दना और सेवा करें। विवेकी और कृतज्ञ पुरुष उनको कभी भी उद्विग्न न करें। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती, परमेश्वरी, इन्द्रादि देवता, यक्षादि, पितृदेवता, गङ्गादि नदी, गन्धर्वादि और स्थावर जङ्गम समस्त जगत् गुरुरूपी विराट्पुरुष के शरीर में अवस्थान करते हैं।

अतएव गुरु की तृप्ति से समस्त संसार की तृप्ति हुआ करती है। ध्यान की मूल गुरुमूर्त्ति है, पूजा के मूल गुरु के श्रीचरण हैं, मन्त्रों के मूल गुरुवाक्य हैं एवं सिद्धि की मूल गुरुकृपा है। गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु महेश्वर, गुरु तीर्थ, गुरु यज्ञ, गुरु दान और तप, गुरु अग्नि, गुरु सूर्य्य और समस्त जगत गुरुमय है। * इस कारण ही श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि मुझ को ही आचार्य्य जानना, कभी अवमानना मत करना और मुझको मनुष्य समझकर असूया मत करना क्योंकि गुरुही सर्वदेवमय हैं। साक्षात भगवत्स्वरूप ज्ञानदीपप्रद गुरु के प्रति जो नराधम मनुष्य भावना करता है उसकी

* गुरुर्ब्रह्म स्वयं साक्षात् सेव्यो वन्द्यो मुमुक्षुभिः।
नोद्वेजनीय एवाऽयं कृतज्ञेन विवेकिना॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च पार्व्वती परमेश्वरी।
इन्द्रादयस्तथा देवा यक्षाद्याः पितृदेवताः॥
गङ्गाद्याः सरितः सर्व्वा गन्धर्व्वाः सर्पजातयः।
स्थावरा जङ्गमाश्चाऽन्ये पर्व्वताः सार्व्वभौतिकाः॥
एते चाऽन्ये च तिष्ठन्ति नित्यं गुरुकलेवरे।
श्रीगुरोस्तृप्तिमात्रेण तृप्तिरेषाञ्च जायते॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोःपदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं सिद्धिमूलं गुरोःकृपा॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
स्तीर्थं गुरुर्यज्ञो गुरुर्दानं गुरुस्तपः॥
ग्निर्गुरुः सूर्य्यः सर्व्वं गुरुमयं जगत्।

सब विद्या हस्तिस्नान की तरह निष्फल होजाती है । * इसी प्रकार प्रसाद के प्रति भोगबुद्धि भी साधक के पतन का कारण होती है । खाद्य वस्तु के प्रति जो स्वाभाविकी रसनेन्द्रियलालसा जीव में विद्यमान है वह भगवत्प्रसाद-ज्ञान से निवृत्त होजाती है क्योंकि प्रसादबुद्धि भावशुद्धि-विधान करती हुई प्राकृतिक लोभ को प्रशमित करदेती है। किन्तु यदि प्रसाद के प्रति भोगबुद्धि होती है तो फिर भाव-शुद्धि नहीं रहती है । इस कारण इस प्रकार की बुद्धि साधक के अधःपतन का कारण होती है ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्तभाव के साथ उन्नति का सम्बन्ध बताया जाता है:—

सहायक होने से ये मुख्य हैं ॥ ४३ ॥

पहले जिस प्रकार के भावों का विषय कहा गया है उन के यथार्थरूप से साधन करने पर साधक की उन्नति में सहायता होती है अतः उस प्रकार के भाव मुख्यसाधन-रूप से माने गये हैं । विग्रह के प्रति भौतिकभाव न रखकर भगवद्भाव रखने से पूर्व्व सिद्धान्तानुसार साधक की आध्यात्मिक उन्नति होती है । इसी प्रकार गुरु के प्रति ब्रह्मभाव और प्रसाद के प्रति भोगबुद्धि का अभाव आध्यात्मिक उन्नति में सर्व्वथा सहायक हुआ

* आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्व्वदेवमयो गुरुः ॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्याऽसद्धीः श्रुतं तस्य सर्व्वं कुञ्जरशौचवत् ॥
मुख्यान्येतानि सहायकत्वात् ॥ ४३ ॥

करता है। इष्टदेव को चढ़ाया हुआ अथवा गुरुदेव को चढ़ाया हुआ जो पदार्थ हो उस पर से अपना सम्बन्ध और भोगबुद्धि का सम्बन्ध हटादेने से ही वह स्थूलप्रसाद आत्म-प्रसाद उत्पन्न करके आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करता है। अतएव पूर्व्वसूत्रकथित त्रिविधभाव ही मुख्य हैं ॥ ४३ ॥

साधक की उन्नति का क्या लक्षण है सो कहाजाताहैः—

दिव्यभावों का विकाश उन्नति का निर्देशक है॥४४॥

दिव्यभावों के विकाश द्वारा ही साधक की उन्नति सूचित हुआ करती है। सृष्टि में दैवी और आसुरी, ये दो प्रकार की सम्पत्ति विद्यमान हैं। इन दो सम्पत्तियों की प्रतिद्वन्द्विता ही शास्त्रों में देवासुरसंग्राम के नाम से अभि-हित है। दैवीसम्पत्ति जीव की उन्नति करती है किन्तु आसुरीसम्पत्ति के द्वारा जीव की अधोगति हुआ करती है। दैवीसम्पत्ति पुण्यमय और आसुरीसम्पत्ति पापमय है। गीता में लिखा है कि दैवीसम्पत्ति मोक्ष की और आसुरीसम्पत्ति बन्धन की कारण हुआ करती है। * महर्षि अङ्गिरा के मत में साधक में जितनी ही दैवीक्रिया, दिव्य-भाव और सम्पत्ति प्रकाशित होती है उतनीही साधक की क्रमोन्नति सूचित हुआ करती है ॥ ४४ ॥

साधन राज्य की उन्नति के लक्षणों के विषय में

दिव्यभावविकाशश्चोन्नतिनिर्देशकः ॥ ४४ ॥

* दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरीमता।

अन्यान्य महर्षियों के मत क्रमशः दिखाये जाते हैं:—

पूजादि में रति ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि वेदव्यास का मत है ॥ ४५ ॥

भगवत्पूजादि में अनुराग साधक की चित्तगति को कल्याणवाहिनी करके साधक को आध्यात्मिकमार्ग में उन्नत किया करता है इस कारण महर्षि वेदव्यास के मत में पूजादि में अनुरागही साधनराज्य में उन्नत होने का लक्षण है। पूजा दो प्रकारकी है, बहिःपूजा और अन्तः-पूजा। स्थूलमूर्त्ति में बाह्य अर्चन धूप दीप नैवेद्यादि के सहयोग से पूजा करना बहिःपूजा कही जाती है। अन्तः पूजा हृदयकमलासन में भगवान् की मनोमयी मूर्त्ति स्थापन करते हुए अन्तःकरण के द्वारा ही अनुष्ठित हुआ करती है। इन द्विविध पूजा में रति ही साधनमार्ग में अग्रसर होने की सहायक होने से साधक की उन्नति की लक्षणरूपा है। भावतत्त्व अन्तिम तत्त्व है इसी कारण भगवान् भावातीत कहे जाते हैं। भावही नाम और रूप का जनक है इसी कारण भावसे सम्बन्धयुक्त स्थूलमूर्त्ति के अवलम्बन से बहिः पूजा अथवा अन्तः पूजा की विधि उपासनाकाण्ड का प्रधान अवलम्बन है। ऐसे उपासनाकाण्ड के प्रधान-अवलम्बन का जिस सत्पुरुष में विकाश हो उसमें भक्ति का लक्षण प्रकाशित हुआ है इसमें सन्देह ही क्या है ॥ ४५ ॥

पूजादिषु रतिरिति पाराशर्य्यः ॥ ४५ ॥

दूसरा मत कहा जाता हैः—

कथादि में रति ही एतादृश उन्नति का लक्षण है यह महर्षि गर्ग का मत है ॥ ४६ ॥

भगवत्कथादि में अनुराग साधक को भक्तिमार्ग में अग्रसर किया करता है यह गर्गऋषि का मत है इस कारण यह साधक की उन्नति का लक्षण है। साधनातिरिक्त समय में भी यदि स्वभावतः ही भक्त के चित्त में भगवत्-कथा के श्रवणार्थ प्रेम उदय हो तो ऐसा होने पर जानना होगा कि भक्त आध्यात्मिकमार्ग में अग्रसर हुआ है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि दुस्तर संसारसमुद्र पार होने के अर्थ भगवान् की लीला-कथा का रसनिषेवण ही एक-मात्र तरणीस्वरूप है। त्रिविधतापसंतप्त जीव लीला-कथातरणि के आश्रय से ही भवसिन्धु पार होसक्ता है। भगवान् की गुणकथा कीर्तित होने पर वह अनन्त पुरुष साधक के चित्त में प्रविष्ट होकर सूर्य्य जिस प्रकार अन्धकार को अथवा प्रबल आँधी जिस प्रकार मेघों को दूरीभूत करती है उसी प्रकार साधक के चित्तगत सकल मल अप-सारित किया करता है। जिस बात में भगवान् की कथा नहीं है वह बात वृथा बात है, भगवत्कथा ही सत्य, मङ्गलमय, पुण्यमय, रमणीय, मनोहर और नित्यनवीनता-पूर्ण है। इससे चित्त को नित्यानन्द होता है और

कथादिष्विति गर्गः ॥ ४६ ॥

दुःखार्णव का नाश होता है । * अतएव एतादृश कथारति अवश्य ही उन्नतिकर एवं दिव्यभाव विकाश का लक्षण होगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है ॥ ४६ ॥

तृतीय मत कहाजाता है:—

अनर्गल आत्मरति ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि शाण्डिल्य का मत है ॥ ४७ ॥

महर्षि शाण्डिल्य का मत यह है कि जिस समय साधक बाधारहित होकर परमात्मा के प्रति अनुरक्त होसके

---

* संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो—
नाऽन्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥
संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥
आत्मरतावविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ ४७ ॥

तबही जानना होगा कि साधक उन्नतिराज्य में अग्रसर हुआ है । भगवान् वेदव्यास ने योगदर्शन के भाष्य में आज्ञा की है कि चित्तरूपिणी नदी का प्रवाह पाप और पुण्य इन दोनों ओर ही प्रवाहित हुआ करता है । * चित्त की एक ही शक्ति को सत्त्वगुण की ओर प्रवाहित करके मनुष्य पुण्यात्मा और साधक अथवा तमोगुण की ओर प्रवाहित करके मनुष्य विषयपरायण और पापात्मा हो सक्ता है । संसार में मनही बन्ध और मोक्ष का कारण है । विषयासक्त मन मनुष्य को विविध संसारजाल में विजडित करके अशेष बन्धनों से बद्ध किया करता है । यह मनही फिर जब विषयों से मुक्त होता है तब इसके द्वारा मुक्ति का द्वार उद्घटित होजाता है यह उपनिषदों का उपदेश है । ‡ जीव जगत में पुत्र स्त्री और कुटुम्बादि के प्रति आसक्त होकर सरोवर के पङ्कार्णव में मग्न वन्य हस्ती के समान दुःख पाते रहते हैं । † भक्तशिरोमणि प्रह्लाद ने इसी कारण भगवान् से प्रार्थना की है कि हे भगवन् ! जिस प्रकार विषयी पुरुषों का चित्त विषयों में अत्यन्त आसक्त होकर उनमें ही एकरति को प्राप्त हुआ

* चित्तं नदीनामोभयतो वाहिनी
वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।

‡ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

† पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥

करता है उसी प्रकार मेरा चित्त आप में ही एकरति को प्राप्त होजाय । ‡ जब भक्त का भावपूर्ण चित्त जाह्नवी की अविरल पवित्र धारा के समान सच्चिदानन्द समुद्र के प्रति धावित होता है एवं संसार की कोई बाधा भी उसकी प्रबल गतिका प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं होती है तबही जानना होगा कि भक्त में दिव्यभाव रूप साधन-मार्गीय उन्नति का लक्षण प्रकाशित हुआ है ॥ ४७ ॥

चतुर्थ मत कहाजाता है:—

भगवान् की महिमा वर्णन करना ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि भरद्वाज का मत है ॥ ४८ ॥

जिस समय साधक के चित्त में श्रीभगवान् के लोकातीत अनुपम माहात्म्य के वर्णन करने में स्पृहा उत्पन्न होती है तबही जानना होगा कि साधक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होरहा है, यही महर्षि भरद्वाज का मत है। साधन-समय के अतिरिक्त समय में भी जब साधक भगवत्प्रेम में मुग्ध हो उनकी सुमधुर गुणावली का कीर्तन करता हुआ समस्त संसार को पवित्र करके विचरण करता तभी जानना होगा कि उस भक्त का हृदयकमल श्रीभगव के प्रति परम प्रेमरूपी मधुर किरण द्वारा प्रफुल्लित हु है एवं इस प्रकार का भक्त अध्यात्मराज्य में शी

‡ या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥
महिमाख्यान इति भरद्वाजः ॥ ४८ ॥

विशेष प्रतिष्ठा लाभ करेगा इसमें फिर सन्देह ही क्या है ? श्रीभगवान् व्यासदेव ने भागवत में कहा है कि विषय-तृष्णाविहीन मुक्त महात्मागण दिनरात जिन चरणों का गुण गान करते रहते हैं, जो भवव्याधि की अमोघ महौषध है, श्रवण और मनको आनन्द देनेवाले इस प्रकार के श्रीभगवान् के महिमाकीर्त्तन से नराधम चाण्डाल के अतिरिक्त और कौन विरत होसक्ता है ? इसी कारण भक्तगण उनकी लोकातीत मधुर चरित्रकथा एवं अवताररूप से उनके जन्म और कर्म्मादि का विषय श्रवण करते हुए विषय-सङ्गरहित और लज्जा आदि पाश रहित होकर उनकी ही महिमा कीर्त्तन करते करते समस्त संसार में भ्रमण किया करते हैं । * श्रीभगवान् ने गीताजीमें आज्ञा की है कि मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ एवं मुझसे समस्त संसार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ऐसा जानकर ज्ञानी व्यक्ति-भावविलसित चित्त से मेरी आराधना किया करते हैं । वे मन और प्राण मेरे में ही समर्पण करके मेरा ही गुण-

* निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्–
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणाऽनुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे–
र्जन्मानि कर्म्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥

कीर्त्तन और मधुरालापन द्वारा आनन्द के साथ संसार में विचरण किया करते हैं। इस प्रकार से प्रीतिपूर्व्वक मदाराधनपरायण मदेकचित्त साधकों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके बल से वे मुझको प्राप्त हुआ करते हैं। उन पर कृपा करके मैं उनके हृदय में ज्ञानालोक प्रकट करता हुआ बुद्धि-स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट किया करता हूँ। * अतएव श्रीभगवान् की इस प्रकार की अनुकम्पा का पात्र भगवन्महिमाकीर्त्तनपरायण साधक अचिरात् उन्नति के मार्ग में अग्रसर होगा इसमें और क्या संशय होसक्ता है ? यही श्रीमान् महर्षि भरद्वाजनिर्दिष्ट महिमाख्यानरूप साधक की उन्नति का लक्षण है ॥ ४८ ॥

पाँचवाँ मत कहाजाता है :—

जगत्सेवा में प्रवृत्ति ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि वसिष्ठ का मत है ॥ ४९ ॥

---

* अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्व्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
जगत्सेवाप्रवृत्ताविति वासिष्ठः ॥ ४९ ॥

जब साधक की प्रवृत्ति जगत्सेवा में नियोजित और आकृष्ट होती है तबही जानना होगा कि साधक ने साधन राज्य में उन्नति लाभ किया है यही महर्षि वसिष्ठ का मत है। श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि भगवद्भक्त अनेक जन्मों के पश्चात् पराभक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हुआ समस्त जगत् को भगवद्रूप देखकर कृतार्थ होता है। यही भक्तिमार्ग की चरम अवस्था है एवं इस प्रकारके भक्त संसारमें दुर्लभ हैं। * इस प्रकार आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त समस्त संसार में श्रीभगवान् का स्वरूप निरीक्षण करने से भक्त स्वभाव से ही भगवत्सेवारूप से जगत् की सेवा में प्रवृत्त होगा इसमें और सन्देह ही क्या है? अत-एव जगत् को ब्रह्मरूप जान कर भगवत्सेवारूप से जगत् की सेवा करना जब उन्नति की चरम सीमा है तब जग-त्सेवा में प्रवृत्ति अवश्यही साधनमार्ग में उन्नति की परि-चायक है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहसक्ता है। यही श्रीमान् महर्षि वसिष्ठकथित जगत्सेवाप्रवृत्तिरूप साधक की उन्नति का लक्षण है। श्रीभगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमद्भागवत में इस प्रकार परमात्मा का रूप जानकर जगत् के हितसाधन में परायण भक्त की विशेष महिमा वर्णन की गई है एवं जगत्सेवाविमुख भक्त की निन्दा की है। यथाः—सकल प्राणीमात्रमें भगवद्भावना करतेहुए निष्काम-

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

कर्म्मयोग में जो भक्त प्रवृत्त होता है एवं भगवत्प्रतिमा के प्रति पूजा, स्तुति और वन्दनादि द्वारा विशेषभक्ति प्रदर्शन करता है, जो महत्पुरुषों के प्रति सम्मान द्वारा, दीनों के प्रति अनुकम्पा द्वारा और समप्रतिष्ठापन्न मनुष्यों के प्रति मैत्रीभाव के द्वारा प्रेम प्रदर्शन करता है, इस प्रकार का यमनियमशील, हिंसाभावरहित, स्वधर्म्मानुरक्त भक्त शीघ्र ही परिशुद्धान्तःकरण होकर परमपुरुष को प्राप्त होसक्ता है। श्रीभगवान् भूतात्मारूप से सकल जीवों में ही विद्यमान रहते हैं अतएव जगज्जननिवासरूप उन भगवान् की उपेक्षा करके जो अन्य प्रकार से पूजा करता है उसकी पूजा केवल विडम्बनामात्र है। इस प्रकार की पूजा भस्ममें आहुति देने के समान हुआ करती है। जो दूसरे के शरीरस्थ भगवान् से द्वेष करता हुआ आत्मपरभाव से युक्त होकर रागद्वेष द्वारा प्राणियों के प्रति वैरभावग्रस्त होता है उसके चित्त में कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार से भूतग्राम (जीवों) के प्रति अवमाननापरायण मनुष्य के बाह्यक परम मूल्यवान् उपचारों के द्वारा भगवान् की पूजा करने पर भी उससे परमपिता भगवान् की तुष्टि नहीं होसक्ती है । अपने में और दूसरे में जो अज्ञानवश भिन्नभाव देखता है श्रीभगवान् कालरूप से उसको भवभय की यन्त्रणा प्रदान किया करते हैं। अतएव जगज्जीवनिवासशील श्रीभगवान् की पूजा के अर्थ समदर्शी होकर मित्रभाव की दृष्टि से दान और मान के द्वारा

समस्त जीवों की सेवा करना उचित है। ईश्वर ही जीव-रूप से समस्त जगत् में व्यापृत है इस प्रकार के भाव से मन लगाकर समस्त जीवों को प्रणाम और उनका सत्कार करना उचित है। * अतः जगत् को श्रीभगवान् का स्वरूप

---

* निषेविताऽनिमित्तेन स्वधर्म्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नाऽतिहिंस्रेण नित्यशः॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनाऽसङ्गमेन च॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवाऽऽत्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥
मद्धर्म्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याऽञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥
अहं सर्व्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्च्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्व्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाऽर्च्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे।
नैव तुष्येऽर्च्चितोऽर्च्चायां भूतग्रामाऽवमानिनः॥
आत्मनश्च परस्याऽपि यः करोत्यन्तरान्तरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥
अथ मां सर्व्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा॥

समझ कर, जो जीव जैसा अधिकारी हो, उसी प्रकार किसीको द्रव्य, किसीको विद्या, किसीको ज्ञान दान आदि द्वारा भगवत्सेवा समझकर सेवापरायण होने से साधक भगवद्भक्ति लाभ करने में समर्थ होताहै। ऐसी जगत्सेवा-प्रवृत्ति जिस महापुरुष में उत्पन्न है वह मुक्तिप्रदा भगवद्भक्ति का अधिकारी अवश्यही है। यही महर्षि वसिष्ठकथित साधनोन्नति का लक्षण है ॥ ४९ ॥

छठा मत कहा जाता है:—

उनको सब कर्म्म समर्पण करना ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि कश्यप का मत है ॥ ५० ॥

जब साधक अपने किये हुए समस्त कर्म्मही श्रीभगवान् के चरणकमल में समर्पित कर सके तबही जानना होगा कि उसने साधनमार्ग में उन्नति लाभ किया है यही महर्षि कश्यप का मत है। मुक्तस्वरूप आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूपी उपाधि प्राप्त होकर ही त्रिविध शरीरकृत कर्म्मों के साथ निजाभिमान रखता हुआ बद्ध हुआ करता है। श्रुति ने कहा है कि आत्मा स्त्री पुरुष वा नपुंसक कुछ भी नहीं है, केवल शरीराऽभिमानवशातः ही उसमें इस प्रकार के भाव उपस्थित होते हैं। प्रकृति के

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥
तदर्पिताऽखिलाचरण इति कश्यपः ॥ ५० ॥

त्रिगुण द्वारा उपहित होकर देही शरीर और मन द्वारा अनुष्ठित कर्म्मों का कर्त्ता और उपभोक्ता अपने को ही मान लिया करता है एवं इस प्रकार संकल्प और अहङ्कार द्वारा बद्ध जीव को जन्मजन्मान्तर प्राप्ति हुआ करती है। * श्रीभगवान् ने गीता में भी कहा है कि प्रकृति के त्रिगुण द्वारा ही सब कर्म्म हुआ करते हैं परन्तु अहंभावापन्न जीव अपने को इन सब कर्म्मों का कर्त्ता समझता है। इस प्रकार से प्रकृतिगत कर्म्मबन्धन से बद्ध होकर जीव को भिन्न भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। † अतएव कर्म्मों के प्रति आसक्ति ही जब संसारबन्धन की कारण है तो जो साधक सकल कर्म्म श्रीभगवान् को समर्पण करके कर्म्मविपाकजनित फलाफल के साथ अपनी आत्मा को

---

* नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥
गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाऽधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिः॥
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्याऽऽत्मविशुद्धजन्म।
कर्म्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥

† प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्व्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

निर्लिप्त रख सक्ता है वह शीघ्रही कर्म्मासक्ति और अहं-कार त्याग करता हुआ प्रकृतिबन्धन से निर्मुक्त होसकेगा इसमें और सन्देह क्या है ? श्रीभगवान् के चरणकमल में सब कर्म्म समर्पण करलेने से साधक के चित्त से कर्त्तृत्वाऽभिमान शीघ्रही मूल सहित विनष्ट होजाता है एवं इस प्रकार व्यष्टिसत्ता के साथ का अहङ्कार विदूरित होने पर साधक शीघ्रही समष्टिसत्ता के साथ अपने आत्मा को मिलाकर स्वस्वरूप की उपलब्धि कर सक्ता है। अतएव श्रीमान् महर्षि कश्यपकथित तदर्पिताऽखिलाचरण साधक की उन्नति का लक्षण है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। श्रीभगवान् ने भी इसी कारण ही गीता में कहा है कि हे अर्ज्जुन ! तुम जो कोई कार्य्य करो, भोजन करो, होम करो, दान करो वा तपस्याही करो, वह सबही मेरे समर्पण करना। इस प्रकार की समर्पणबुद्धि द्वारा शुभाऽशुभ कर्म्मबन्धन से मुक्तिलाभ कर सकोगे एवं संन्यासयोग-युक्तात्मा और मुक्त होकर मुझे प्राप्त होसकोगे। जो भक्त समस्त कर्म्म मुझे समर्पण करके मत्परायण होता हुआ अनन्ययोग से मेरीही उपासना कर सक्ता है मैं उस मदाविष्ट-चित्त भक्त को शीघ्रही मृत्युमय संसारसमुद्र से उद्धार किया करता हूँ। * यही तदर्पिताऽखिलाचरण साधक की

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाऽशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।

साधन राज्य में उन्नति का परम परिचायक है ॥ ५० ॥

सप्तम मत कहाजाता है:—

उनको विस्मरण होने पर व्याकुलताप्राप्ति होना ही ऐसी उन्नति का लक्षण है यह महर्षि नारद का मत है ॥ ५१ ॥

जब भक्त के चित्त में श्रीभगवान् के प्रति इस प्रकार का निविड आकर्षण उत्पन्न हो कि उनके विरह से भक्त का चित्त अत्यन्त व्याकुल होकर छटपटाने लगे तबही जानना होगा कि भक्त ने साधनमार्ग में विशेष उन्नति लाभ किया है, यही महर्षि नारद का मत है । लौकिक जगत् में भी प्रेमपात्र के प्रति प्रेम की दो ही अवस्था देखी जाती हैं । एक—प्रेमपात्र के सम्मुख आतेही प्रेम का विकाश और उसके विदेश में जाने पर प्रेम की अल्पता, अविस्मृति अथवा अल्पस्मृति होती है । यह प्रेम की साधारण अवस्था है । परन्तु पतिप्राणा सती के प्रेम के समान जब चित्त के अन्तस्तल मे प्रेमभाव की इस प्रकार की तीव्रता का उदय होता है कि पति के प्रवास में गमन करने

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥
तद्विस्मरणादेव व्याकुलताप्राप्तिरिति नारदः ॥ ५१ ॥

पर अथवा प्रेमपात्र के आँख से अलग होतेही प्रेमासक्त मनुष्य का हृदय विरह की यन्त्रणा से व्याकुल होजावे तबही जानना होगा कि यह प्रेम विशेष उन्नतदशा को प्राप्त हुआ है। लौकिक जगत् के इस प्रकार के प्रेमभाव के समान श्रीभगवान् के प्रति जब भक्त के हृदय का प्रेम-प्रवाह इस प्रकार के गम्भीरभाव से प्रवाहित होता है कि श्रीभगवान् के विरह में भक्त एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सके, उसका हृदयसिन्धु उद्वेलित होकर अश्रुधारा से वक्षःस्थल प्लावित होजावे, विरहकी तुषाग्नि रातदिन हृदय-कानन को दग्ध करती रहे, तभी जानना होगा कि भक्तने प्रेममय साधन राज्य में विशेष उन्नति प्राप्त की है। श्रीभगवान् पतञ्जलि ने योगदर्शन में "चित्त के तीव्र संवेग उपस्थित होने पर भगवत्कृपा शीघ्रही लाभ होती है" * इस प्रकार कह कर महर्षि नारद के मत काही अनुमोदन किया है। श्रीमद्भागवत में गोपीगण के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् ने इस प्रकार के विरह की ही महिमा वर्णन करके कहा है कि "उनके प्रति गोपियों का विशेष प्रेम रहने पर भी वे जो बीच बीच में गोपियों को त्याग करते थे उसका कारण यह है कि प्रेम में विरह प्राप्त होने से प्रेम की जो कुछ न्यूनता है वह दूर होकर भगवान् के प्रति गोपियों को मोक्षप्रद पूर्ण प्रेम प्राप्त हो क्योंकि गोपियाँ जब उनके लिये संसार त्याग करके आई हैं तो उनके

* तीव्रसंवेगानामासन्नतमः ।

प्रति कियेजानेवाले पूर्ण प्रेम के मार्ग में जो कुछ अन्तराय है वह विरहाग्नि द्वारा दग्ध होना ही आवश्यक है।* गोपियों ने श्रीभगवान् के विरह में किस प्रकार की यन्त्रणा को अनुभव किया था एवं उनके अन्तर्धान होने पर व्याकुलता से छटपटा कर पागलिनी के समान समस्त वन में परिभ्रमण और उनका अन्वेषण तथा प्रार्थना की थी वह भी भागवत में वर्णन हुआ है। † अतएव श्रीमान् महर्षि नारदकथित "उनके विस्मरण होनेपर व्याकुलता

---

* नाऽहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयाऽन्यं निभृतो न वेद॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥

† अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्।
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥
हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! क्वाऽसि क्वाऽसि महाभुज!।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥

प्राप्ति" साधकोन्नति का एक अति उत्तम लक्षण है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५१ ॥

भगवत् प्रीति (भक्ति) के मूल में क्या भाव होन चाहिये इस विषय में कहाजाता है:–

माहात्म्यज्ञान अपेक्षित हुआ करता है ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् के प्रति जो प्रेम उसके मूल में माहात्म्य-ज्ञान रहने से, तब उस प्रेमके द्वारा साधक की उन्नति हुआ करती है। श्रीभगवान् अथवा उनके अवतारादि लीला-विग्रहों के प्रति महिमाज्ञान द्वारा जो अनुराग उत्पन्न होता है उसके द्वारा ही साधक साधनराज्य में उन्नति लाभ कर सक्ता है। लौकिक जगत् में भी देखाजाता है कि प्रियवस्तु के प्रति गुणासक्ति द्वारा जो अनुराग उत्पन्न होता है वह प्रायः ही क्षणभंगुर नहीं होता है प्रत्युत गुणज्ञान और स्वरूपपरिचय के साथही साथ अनुराग प्रफुल्लकमल के समान दिनदिन वृद्धिङ्गत ही हुआ करता है। इसी प्रकार श्रीभगवान् का अथवा उनके किसी लीलाविग्रह का लोकोत्तर चरित्रचित्र हृदयपट में प्रतिष्ठित करके उनके प्रति साधक की प्रीति उत्पन्न होने पर वह प्रीति श्रीभगवान् के स्वरूपज्ञान के साथही साथ क्रमशः प्रगाढ़ होकर भक्त को भगवद्राज्य की उच्चपदवी पर प्रति-ष्ठित करेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। श्रीमद्भागवत की रासपञ्चाध्यायी में श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति भक्त

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम् ॥ ५२ ॥

गोपीगण का इस प्रकार के माहात्म्यज्ञान के विषय का अनेक परिचय पायाजाता है एवं इसी माहात्म्यज्ञान के ही कारण श्रीभगवान् के प्रति उनकी निरतिशय प्रेम-वृद्धि हुई थी और भगवत्कृपाप्राप्ति द्वारा वे मुक्ति प्राप्त हुईं थीं। "हे परमप्रिय भगवन्! आप केवल यशोदा के नन्दन ही नहीं हो परन्तु समस्त जगज्जीवों के हृदयविहारी अन्तर्यामी परमात्मा विश्व जगत् की रक्षा के अर्थ ब्रह्मादि देवगण और प्रकृति माता के द्वारा प्रार्थित होकर ही निराकाररूप आप का साकाररूप से यदुकुल में आविर्भाव हुआ है। आप समस्त जीवों के आत्मारूप और बन्धु होने से प्रियतम हो। आदिपुरुष परमात्मा जिस प्रकार से देवलोक की रक्षा किया करते हैं उसी प्रकार व्रजकुल की रक्षा और दुःखनिवारण के अर्थ ही आप का आविर्भाव हुआ है।* इसके अतिरिक्त गोपीगण के अभिमानमर्द्दन के अर्थ सहसा अन्तर्हित कृष्ण के विरह में उन्मादिनी गोपियों ने दुर्ब्बादलों से श्यामलायतना वसुन्धरा को

---

* न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा
व्यक्तो भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता॥

सम्बोधन करके जो कहा था उससे भी श्रीकृष्णचन्द्र का माहात्म्यज्ञान उनको था इसका सम्यक् परिचय पाया जाता है "हे वसुन्धरे! हम लोग नहीं जानती हैं कि तुमने क्या तपस्या की है जिसके फल से श्रीभगवान् के चरणकमल के स्पर्श से तुमको रोमाञ्च होरहा है। अन्तर्हित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अभी तुम्हारे अङ्ग को स्पर्श करके चलेगये हैं उसीसे क्या इस प्रकार रोमाञ्च होरहा है अथवा वामन और वराह अवतार में तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श श्रीभगवान् ने किया था उससे इस प्रकार रोमाञ्च होरहा है। * इस प्रकार से श्रीकृष्णचन्द्र की महिमा का बोध रासविलासिनी गोपियोंको था इससे ही वे श्रीभगवान् की अनुकम्पा और प्रेम प्राप्त करके भक्ति के बल से आनन्दमय दिव्यलोक प्राप्तकरने में समर्थ हुईं थीं। वैष्णव हो, सौर्य्य हो, शाक्त हो, गाणपत्य हो अथवा शिवोपासक हो जब तक वह तटस्थ ज्ञान द्वारा अपने इष्ट का माहात्म्य-ज्ञान लाभ न करे तब तक वह भक्ति राज्य में उन्नति प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है अतएव भगवदनुराग के मूल में माहात्म्यज्ञान सम्यक्रूप से अपेक्षित हुआ करता है इसमें सन्देह नहीं है॥ ५२॥

---

* किन्ते कृतं क्षिति! तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भवउरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

माहात्म्यज्ञान न रहने से क्या दोष होता है ?

उसके अभाव में जारप्रेमवत् हुआ करता है ॥५३॥

श्रीभगवान् के प्रति महिमाज्ञानशून्य प्रेम उपपति के प्रेम के समान हुआ करता है। लौकिक जगत् में उपपति से सम्बन्ध जिस प्रकार स्त्री के लिये अधोगति का कारण हुआ करता है उसी प्रकार जारप्रीति और ईश्वर-भक्ति दोनों में ही अनुराग होने पर भी सदाश्रय और माहात्म्यज्ञानमूलक ईश्वरभक्ति द्वारा क्रमशः साधक की उन्नति एवं असदाश्रय और महिमाज्ञानशून्य प्रीति के द्वारा क्रमशः साधक की अधोगति हुआ करती है। समस्त संसार भावमय है, भाव के तारतम्य के अनुसार ही अन्तःकरण की उन्नति का तारतम्य हुआ करता है। उन्नत सात्त्विक भाव के द्वारा भावित अन्तःकरण शीघ्रही भाव के गुण से उन्नति के सोपान पर आरोहण कर सक्ता है। इसी प्रकार तामसिक अधमभावके द्वारा भावित अन्तःकरण भावकी अधमता के कारण शीघ्रही अवनति के अधस्तन कूप में डूब जायगा इसमें और सन्देह क्या है ? इस कारण ही महिमाबोध-विहीन केवल स्थूल अवलम्बन आदि के द्वारा उत्पन्न भगवत्प्रेम उन्नतभाव के अभावसे अन्तः-करण को उन्नत कर नहीं सक्ता है एवं जार प्रेम के समान चित्त की अवनति करनेवाला होसक्ता है। यही इस सूत्र का तात्पर्य्य है। शास्त्रों में कहीं कहीं जारबुद्धि-

---

तदभावे जारवत् ॥ ५३ ॥

जनित प्रेम के द्वारा भी उन्नति होने का दृष्टान्त पाया जाता है वह साध्य और साधक के असाधारण अधिकार और संस्कार से ही हुआ है इस प्रकार समझना चाहिये श्रीमद्भागवत की रासपञ्चाध्यायी में इस प्रकार वर्णन हुआ है कि रासलीला की रात में जिन गोविन्दवेणुनिनाद-मुग्धा सब गोपियों को उनके पतियों ने श्रीभगवान के पास जाने से रोका था उनके हृदय में श्रीभगवान के महिमाज्ञान से उत्पन्न प्रेम न होने पर भी उनकी मुक्ति हुई थी। जैसे श्रीमद्भागवत में कहा है कि अन्तर्गृहगता और अलब्धनिर्गमा कतिपय गोपियाँ आंख मूंदकर श्रीकृष्ण के स्मरण में विलीनचित्ता होगईं। इस प्रकार से प्रियतम-विरहजनित दुस्सह तीव्र संताप द्वारा उनके अशुभकर्म्म नष्ट होगये और ध्यानयोगके द्वारा किये हुए कृष्णके निविड आलिङ्गन से परमसुख भोग होकर पुण्यकर्म्मों का भी क्षय होगया। इस प्रकार से जारबुद्धि के द्वारा भी परमात्मा के प्रति आसक्ति होने से द्वन्द्वमूलक पुण्यापुण्य कर्म्मों के क्षय होजाने पर उसी क्षण में क्षीणबन्धना होकर वे गोपियें गुणमय देहत्याग करके मुक्त होगईं। * ब्रह्मर्षि शुकदेवजी

---

* अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥
दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताऽच्युताऽऽश्लेषनिर्वृत्त्या क्षीणमङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

के मुखसे "जारबुद्ध्याऽपि" अर्थात् "जारबुद्धि के द्वारा भी" यह बात सुनकर परीक्षितने संदिग्धचित्त होकर जिज्ञासा की कि उक्त गोपियें श्रीकृष्ण को परमात्मा नहीं जानतीथीं, केवल परमरूपवान् प्रिय कान्त पुरुष जानकर ही आसक्त हुई थीं तौभी उनकी मुक्ति किस प्रकार होगई ? * इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेवजीने कहा है कि जिस प्रकार अमृत को न जानकर यदि कोई अमृत पान करे तौभी जैसे अमृत की शक्ति से वह अमर होजाताहै ठीक उसी प्रकार अव्यय, अप्रमेय, सर्व्वशक्तिमान् परमेश्वर के प्रति ज्ञानपूर्व्वक हो अथवा अज्ञानपूर्व्वक हो, काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य सौहृद आदि जिस किसी भाव के द्वारा यदि जीव आकृष्ट हो तो श्रीभगवान् की असाधारण शक्ति के बल से योग्य संस्कारयुक्त जीव उससे तन्मयता प्राप्त होकर मनके विलय होने पर मनःप्रसूत काम क्रोध मोह आदि वृत्तियों से रहित हो मुक्त हुआ करता है।। उक्त जारबुद्धिसङ्गता गोपियों की भी मुक्ति इस प्रकार

* कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

† नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।।
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

से ही हुई थी। अर्थात् यद्यपि उनकी आसक्ति का कारण केवल कामभाव ही था एवं श्रीकृष्ण परमात्मा हैं यह भी वे जानती नहीं थीं तथापि प्राक्तन असाधारण संस्कारों से श्रीकृष्ण के प्रति असाधारण प्रीति उत्पन्न होनेसे श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपनी सर्व्वशक्तिमत्ता के बल से उनको अपने भावमें तन्मय करके प्रथम उनकी मानसिक कामादि वृत्तियों का नाश किया और तत्पश्चात् शुभ और अशुभ उभय विध कर्म्मोंका क्षय करके उनको मुक्त करादिया था। यह श्रीकृष्ण परमात्मा की असाधारण शक्ति एवं गोपियों के असाधारण प्राक्तन संस्कारों के कारणही होसका था। जारबुद्धिसम्पन्न प्रीति इसका साक्षात कारण नहीं है। साधारण संस्कारयुक्त स्त्रियों का इस प्रकार का अधिकार नहीं हो सक्ता है एवं किसी साधारण पुरुष में परमात्मा के भाव से आसक्त होने पर भी उक्त पुरुष में परमात्मा की वास्तविक सत्ता के अभाव से वैसी शक्ति न होने से ही आसक्त प्रेमिक की उस प्रकार की तन्मयता और शुभाशुभ कर्म्मोंका नाश नहीं होसक्ता है। उक्त वर्णन में "जारबुद्ध्याऽपि" अर्थात् "जार बुद्धि के द्वारा भी" इस वाक्य में "अपि" शब्द के प्रयोग के द्वारा ही सिद्ध कियागया है कि ज़ारबुद्धि से उत्पन्न प्रेम पतन का कारण है और यह भी उक्त श्लोकों के द्वारा सिद्ध होता है कि "जारबुद्धि" मुक्ति की कारण नहीं है केवल प्रिय वस्तु के प्रति आकर्षण की ही कारणमात्र है और आकर्षणानन्तर प्रियवस्तु की सर्व्व-

शक्तिमत्ता और प्रेमियोंका असाधारण प्राक्तनकर्म्म संस्कार ही इस प्रकार की उन्नति का कारण है। अन्यथा साधारण संस्कार की दशा में जारबुद्धि से प्रेम पतन का ही कारण हुआ करता है यही सिद्धान्त, भगवान् व्यास के वचनों से इस सूत्र के विरोध का स्पष्ट परिहार है॥ ५३॥

माहात्म्यज्ञान रहने से क्या लाभ होता है?

उसके होनेसे पतनकी सम्भावना नहीं रहती है॥५४॥

श्रीभगवान् के प्रति माहात्म्यज्ञानपूर्व्विका प्रीति उत्पन्न होने पर साधक को पतन का भय कभी भी नहीं रहता है। साधनराज्य में भावों की उन्नति के अनुसारही जब साधक की उन्नति हुआ करती है तब भक्त के हृदयमें श्रीभगवान् के प्रति महिमाज्ञानजनित उच्चभाव विद्यमान रहने से भाव के बल से भगवद्राज्य में भक्त दिनादिन उन्नति प्राप्त करेगा एवं कदापि उसका पतन नहीं होगा इसमें सन्देह ही क्या है? भक्त गोपिकाएँ पूर्व्वसूत्र में कथित इस महिमाज्ञान से उत्पन्न भावोन्नति के बल से ही दुश्छेद्य संसारपाश को छिन्न करके साधनमार्ग के विविध विघ्नों को अतिक्रमण करतीहुई सर्व्वत्र विराजमान आनन्दकन्द सच्चिदानन्द को प्राप्त करने में और उनके

तत्सत्त्वेऽनवपतनम्॥ ५४॥

इति श्रीमहर्षिअङ्गिराकृतदैवीमीमांसादर्शने उत्पत्तिपादनामकः द्वितीयः पादः समाप्तः।

मुनिजनदुर्लभ चरणकमलों में शरीर मन प्राण और आत्मा को समर्पण करके जन्म को सफल करने में समर्थ हुई थीं। चाहे प्रेम उन्नत ही क्यों न हो परन्तु महिमा ज्ञानरहित होने से वह प्रेम का मार्ग भयरहित नहीं है। स्थूल अवलम्बन होने से प्रथम तो अवलम्बन में ही विषय बुद्धि होसक्ती है, द्वितीयतः साधक के वृत्तियों की श्रेष्ठता और निकृष्टता के अनुसार बहुतसा फेर पड़सक्ता है इसकारण महिमा ज्ञानरहित होकर जो प्रेम किया जाता है उसमें भय अनेक है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण थे इस कारण महिमा ज्ञानरहित किसी किसी गोपिका का कल्याण होना सम्भव था। किन्तु यह पूर्णता सकल स्थानों में सम्भव नहीं है। इसी उदाहरण के अनुसार महिमा ज्ञान से रहित भक्ति भी भयरहित नहीं होसक्ती। फलतः तटस्थ ज्ञानकी सहायता से भगवन्महिमा का ज्ञान लाभ करके तब यदि भक्त भक्ति के साधन में तत्पर हो तो उसका वह साधन मार्ग भय से सर्व्वथा रहित होगा। अतः महिमा ज्ञानसहित भक्ति ही पूर्ण भयरहित है। यही इस सूत्र में कथित पतन भयरहित महिमाज्ञानजनित उन्नति का लक्षण है॥ ५४॥

इति श्रीमहर्षि अङ्गिराकृत दैवीमीमांसादर्शन के भाष्य के टीकोपम भाषानुवाद का उत्पत्तिपादनामक द्वितीय पाद समाप्त।

श्रीमहामण्डलहिन्दीग्रन्थमालाकी नियमावली।

(१) महामण्डल के संरक्षक और प्रतिनिधियों से इस कार्यके लिये अलग स्थिर सहायता संग्रह करना। जो स्थायी कोष के बनाने में काम आवे और आवश्यकता आ पड़ने पर पुनः लौटा देनेकी शर्त पर बिला सूद के इस कार्य में लगाई जा सके।

(२) महामण्डल के विभिन्न भाषाभाषी विद्वान् सहायक नवीन ग्रन्थ निर्माण कर और प्राचीन ग्रन्थों की टीका टिप्पणी अथवा सारसंग्रह कर इस विभाग को प्रदान करें। जिससे इस विश्वव्यापी धर्म के सिद्धान्तों की पुष्टि हो।

(३) महामण्डल से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी सभा सोसाइटियाँ हों, वे इस विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों का प्रचार स्वयं करें और अन्य प्रचारकों को सहायता करें।

(४) यद्यपि कुछ प्रचारक वैतनिक भी रक्खे जायँगे, तथापि भारतव्यापी कार्य थोड़े से प्रचारकों द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता। इसके लिये श्रीमहामण्डल की शाखासभाओं और पोषकसभाओं व प्रान्तीय कार्य्यालयों को ही अधिक उद्योग करना चाहिये।

(५) जो पुस्तक-मालाएँ महामण्डल से प्रकाशित होंगी; उनके कम से कम २००० स्थायी ग्राहक होने चाहिये। उन्हें सब पुस्तकें कुछ स्वल्प मूल्य में दी जायँगी। यदि हर एक शाखा सभा आदि अपने मेम्बरों में से १०-१५ भी ग्राहक संग्रह कर देगी तो यह काम सहज हो सकता है।

(६) अवैतनिक प्रचारकों को उचित कमीशन दिया जायगा। और जिन शाखा सभाओंआदि द्वारा जितने ग्राहक संग्रह होंगे, उनको भी उस हिसाब से आर्थिक सहायता मिलेगी, जिससे इस विभाग की उन्नति के साथही साथ उन संस्थाओं की भी अर्थवृद्धि हो। इसमें केवल शारीरिक श्रमकी ही आवश्यकता है।

(७) जो सभा या जो प्रचारक सर्वोत्तम कार्य करेंगे, अर्थात् ग्रन्थ प्रचार कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करेंगे, उन्हें श्रीमहामण्डल के वार्षिकोत्सव पर विशेष पारितोषिकद्वारा, मेडल आदि द्वारा और अन्य प्रकार से भी कार्य के महत्त्व के अनुसार सम्मानित किया जायगा।

स्थिर ग्राहकों के नियम।

इस समय हमारी ग्रन्थमाला में निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित

मन्त्रयोगसंहिता भाषानुवाद सहित	१)	गीतावली
भक्तिदर्शन भाषाभाष्य सहित	१)	धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड
योगदर्शन भाषाभाष्य सहित	२)	धर्मकल्पद्रुम द्वितीय खण्ड
प्राचीन दृष्टि में प्रवीन भारत	१)	धर्मकल्पद्रुम तृतीय खण्ड
[illegible]पुराण भाषानुवाद सहित	१)	सन्यासगीता भाषानुवाद सहित
[illegible]देशपारिजात (संस्कृत)	॥)	
भारतधर्ममहामण्डलरहस्य	१)	गुरुगीता भाषानुवाद सहित

इनमें से जो कमसे कम ४) मूल्य की पुस्तकें खरीदेंगे अ[illegible] ...क होने का चन्दा १) भेज देंगे, उन्हें शेष और आगे होनेवाली सब पुस्तकें ¾ मूल्यमें दी जायँगी।

स्थिर ग्राहकों को मालामें ग्रथित होनेवाली हरएक पुस्तक होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी, वह एक कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमा से, अथवा जहां वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वह मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

जो धर्म्मसभा आदि इस धर्म्मकार्य्य में सहायता करना च सज्जन इस ग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम [illegible] कृपा करें।

त्रिमात्रात्मक हिन्दी भाष्यसहित श्रीमद्भगवद्गीता, दैवीमीमां भाग, धर्मकल्पद्रुम का चौथा भाग, हिन्दी अनुवादसहित सू[illegible] हठयोगसंहिता यन्त्रस्थ हैं।

गोविन्द शास्त्री दुगवेक[illegible]
सहकारि अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश वि[illegible]
श्रीभारतधर्ममहामण्डलप्रधानकार्[illegible]
जगतगंज,